श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली :—

(१) श्री भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्डया, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० वारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगड्डू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह

(२५) श्री बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
(२७) ,, ला० सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
(२८) श्रीमती धनवंती देवी ध० प० स्व० ज्ञानचन्द जी जैन, इटावा
(२९) श्री दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर, कानपुर
(३०) श्री गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, लालगोला
(३१) दि० जैनसमाज नाई मंडी, आगरा
(३२) दि० जैनसमाज जैनमन्दिर नमकमंडी, आगरा
(३३) श्रीमती शैलकुमारी ध० प० बा० इन्द्रजीत जी वकील, कानपुर
* (३४) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया
* (३५) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छाबड़ा, झूमरीतिलैया
* (३६) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
* (३७) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या, जयपुर
* (३८) ,, बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ
* (३९) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
× (४०) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
× (४१) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
× (४२) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला
× (४३) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला

नोटः—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

—:०:—

नियमसार प्रवचन पंचम भाग

कालुस्समोहसण्णाराग दोसाइ असुहभावाणं।
परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥६६॥

पूर्ववर्णित महाव्रत और समितियोंका स्मरण-- इससे पूर्व व्यवहार चारित्र अधिकारमें पञ्चमहाव्रतों और पञ्चसमितियोंका वर्णन हुआ। साधुजन व्यवहारचारित्रके समय भी अंतःचारित्रकी उन्मुखताको नहीं छोड़ते हैं। चारित्रकी जान अन्तर्भावना है। केवल मन, वचन, कायकी चेष्टा और स्थिरताको चारित्र नहीं कहते हैं। चारित्र पुद्गलका गुण नहीं है, चारित्र आत्माका गुण है। दर्शन और ज्ञानकी पर्यायोंमें स्थिरता से आलम्बन होना अर्थात ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहना इसको चारित्र कहते हैं। व्यवहारचारित्र पालन करते हुए यदि इस अंतःसंयमकी सुध रहती है तब उसका नाम व्यवहारचारित्र है। पंचमहाव्रतोंमें साधुजन किस प्रकार अन्तर्भावना करते हैं इसका भी वर्णन पहिले निकल चुका है और समितियोंके समय इसही प्रकार साधुजन निश्चयसमितिका पालन करते हैं।

ईर्यासमितिमें निश्चय व्यवहार-- ईर्यासमितिमें व्यवहार अंश तो इतना है कि जीवरक्षाका भाव रखते हुए अच्छे कामके लिए शुद्धभावना सहित दिनमें चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना। उसी समय भी निश्चयसमिति उनके है। वे इस प्रकारसे जानते हैं कि विहार करना आत्माका स्वभाव नहीं, अविहारस्वभावी आत्माकी सिद्धिके लिए विहार करना पड़ रहा है। होती है कोई परिस्थितियां ऐसी कि जब विहार करना ही चाहिए। मैं तो इस अविहारस्वभावी आत्मतत्त्वमें गमन कर रहा हूं, गमन करना चाहिए। गमन करनेका उनका जो यत्न रहता है वह है निश्चय ईर्यासमिति।

भाषासमितिमें निश्चयव्यवहार— भाषासमितिमें भी हित मित प्रिय वचन साधुजन बोलते हैं। इतने पर भी उनके अन्तर्भाव यह रहता है कि वचन बोलनेका स्वभाव मेरा है ही नहीं, मैं तो भाषासे रहित केवल भावमात्र चैतन्यस्वरूप हूं। उस निर्वचन निर्बाध आत्मतत्त्वकी उन्मुखताका यत्न रखते हुए वे रहते हैं, यह है उनकी निश्चयसमितिका पालन।

आदाननिक्षेपण समितिमें निश्चयव्यवहार— व्यवहारमें वे शौच, संयम और ज्ञानके उपकरणोंको ग्रहण करते हैं और रखते हैं सावधानी सहित जीवरक्षा का ध्यान रखते हुए, किन्तु साथ ही अंतरंग में यह भी संस्कार बना हुआ है कि बड़ी सावधानी सहित अपने आपके गुणोंका तो ग्रहण करना और विकारोंका क्षेपण करना, ऐसी निश्चयसमिति सहित उनका आदान निक्षेपणव्यवहारसमिति में चलना है।

एषणासमितिमें निश्चयव्यवहार— एषणा समितिमें वे शुद्ध विधि सहित अंतराय टालकर, दोषोंको दूर कर आडम्बर पाखण्डोंको न बढ़ाकर वे आहारकी एषणा करते हैं। यह तो उनका व्यवहारसमिति अंश है किन्तु अंतरंगमें उनके यह ध्यान बना हुआ है कि मेरे आत्माका तो केवल द्रव्यापनका कार्य है। आहार करने जैसी अत्यन्त बेढंगी बातमें लगना पड़ता है। कहां तो यह मैं अमूर्त आत्मतत्त्व और कहां यह मूर्त पुद्गल आहार? इसका इसके साथ जोड़ा क्या? ऐसे अनाहारस्वभावी अमूर्त आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिए चूँकि यह परिस्थिति बड़ी विकट है सो आहार ग्रहण करना पड़ रहा है। आहार ग्रहण करते हुए अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्वका ध्यान रखने वाले साधुओंको आहारका मजा ही क्या आयेगा? भले ही लोग हाथ जोड़ रहे हैं, बड़े मिष्ट व्यञ्जन सामने रख रहे हैं, किन्तु उनका चित्त तो अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्वकी ओर है। या निश्चय समिति सहित व्यवहारसमितिका पालन करते हैं।

प्रतिष्ठापनासमितिमें निश्चयव्यवहार – प्रतिष्ठापना समितिमें वे गुप्त प्रासुक, बाधारहित, जहां किसी की रुकावट न हो, ऐसे स्थान पर मलमूत्र क्षेपण करते हैं। मलमूत्र क्षेपण करनेके पश्चात् कायोत्सर्ग करके उनकी ऐसी भावनामें जो विशुद्धि बढ़ती है वह भी आश्चर्यजनक है। एक बेढंगी परकी बातसे निपट कर, इस शरीरकी हठोंके झंझटोंसे दूर होकर वे साधु अपने आपमें विश्राम लेते हैं और उस निर्दोष निर्मल आत्मतत्त्व की भावना करते हैं। साथ ही इस शरीरके अशुचिपनेका बार-बार परिणाम बनाते है, मनमें चिंतन करते हैं। यों अन्तरमें निश्चयसमिति सहित वे प्रतिष्ठापना समिति करते हैं।

समितिधर संतोंके गुप्तिकी भावना— इस प्रकार प्रवृत्ति करते समय समितियां सहित अपनी प्रवर्तना करने वाले साधुसंत परिणाम यह रखते हैं कि यह सब कुछ भी न करना पड़े उसही में भला है और इन झंझटोंसे दूर होकर जब जब भी लम्बे-लम्बे अवसर आते हैं वे गुप्तियोंके पालनेमें रत रहते हैं अथवा थोड़ा भी अवसर मिले तो वे गुप्तियों के पालनेका यत्न करते हैं।

गुप्तिका अर्थ— गुप्ति कहते हैं रक्षा करनेको। लोकमें गुप्तिका अर्थ छुपाना प्रसिद्ध हो गया है। यह गुप्त बात है अर्थात् छुपाई गयी बात है; पर गुप्तका अर्थ छिपाना नहीं है। गुप्तका अर्थ है रक्षा करना। किन्तु रक्षा छुपानेमें अधिकतया होती है इसलिए उसका असली अर्थ लोग भूल गए और छुपाना अर्थ प्रसिद्ध हो गया। यह मेरी बात गुप्त रखना, इसका अर्थ

तो यह है कि यह मेरी बात सुरक्षित रखना। बात सुरक्षित कब रहेगी जब आप अपने मनमें छुपाये हुए रहेंगे। यदि बोल दिया तो उस बातकी टांग टूट जायेगी और बोलने वालेकी आफत आ जायेगी अर्थात् गुप्तका अर्थ है रक्षित करना। जिसमें निज आत्मतत्त्वकी रक्षा हो उसे गुप्ति कहते हैं।

मनोगुप्तिका अर्थ— यह गुप्ति तीन प्रकारकी है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। इन गुप्तियोंमें से इस समय मनोगुप्तिका वर्णन चल रहा है। मोह, संज्ञा, रागद्वेष आदि अशुभ भावोंके परिहार करने को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा गया है। मनोगुप्ति एक ही पद्धतिकी है, किन्तु जान बूझकर हठ करना, श्रम करना, मनोगुप्ति बनाना सो तो व्यवहार मनोगुप्ति है और इतना अभ्यास बन जाय, इतनी स्वच्छता और दृढ़ता आ जाय कि ये सारे काम सहज हों, हो वह निश्चयसे मनोगुप्ति है। मनोगुप्तिका उद्देश्य दोनोंमें एक है। एक बना करके यत्न किया और एक सहज हुआ।

कलुषताका बोझ — कलुषताका अर्थ है क्रोध, मान, माया, लोभ। जैसे पानी स्वच्छ है, उसमें कोई दूसरी रंगीली चीज डाल दी जाय तो वह पानी कलुषित हो जाता है। इस ही प्रकार यह आत्मतत्त्व स्वच्छ है किन्तु इसमें क्रोध, मान, माया, लोभका कोई रंग गिर जाय तो वह रंगीला और कलुषित हो जाता है। इसका स्वभाव स्वच्छ ज्ञातृत्वका है, केवल जानन यह कितना सूक्ष्म और व्यापक कार्य है। यह एक जाननका अभ्यासी पुरुष जान सकता है और मोटे रूपमें यों समझिये कि यद्यपि जीवके स्वभाव भाव और विकारभाव सब ही आकाररहित हैं, रूप, रस आदिक रहित हैं फिर भी ऐसा विदित होता है कि जहां केवल जाननरूप ही वृत्ति है वहां तो अत्यन्त सूक्ष्म भाव है और जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदि तरंग आ जाते हैं तो वहां वह स्थूल भाव हो गया। इतना बोझ हो जाता है। सूक्ष्मतत्त्वका बोझ नहीं होता है किन्तु निर्भार स्थूल मोटी चीज आ जाय तो वहां बोझ हो जाता है। सो देखलो क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय करते हुएमें इस जीवको कितना बोझ रहता है? इतना बोझल होता हुआ यह जीव कर्मोंके भारको, शरीरके भारको ढोता हुआ यत्र तत्र विचर रहा है।

मनोगुप्तिकी उत्कृष्टता और अनुत्कृष्टता— उन क्रोधादिक चारों कषायोंसे रहित अपनी वृत्ति बनाना यह है मनोगुप्ति। अपने मनमें दुर्भाव न जगना, मनको वशमें करना सो है मनोगुप्ति। मनोगुप्तिका उत्कृष्ट अश

तो यह है कि शुभ और अशुभ सभी प्रकारके विचार भी दूर हो जायें और उससे अनुत्कृष्ट अंश यह है कि अशुभ संकल्प विकल्प उत्पन्न न हों और शुभ संकल्पसे अपने आपकी रक्षाका यत्न करें यह अनुत्कृष्ट अंश है।

क्रोधमें अविवेकका प्रसार— क्रोध कषायमें यह जीव बेहोश हो जाता है। कर्तव्य अकर्तव्यका विवेक नहीं रहता है। गुस्सा ही तो है। उस गुस्सेमें जो कुछ कर आये। क्रोध कुछ अविवेकको लिए हुए होता है। यद्यपि ज्ञानी पुरुषके भी कभी क्रोध भी आ जाता तो भी विवेकको स्पर्श किए हुए होता है, एकदम अविवेक और अज्ञान भरा नहीं होता है। फिर भी जितने अंशमें विवेक है वह तो है ज्ञानका कार्य और जितने अंशमें अविवेक है वह है क्रोधका कार्य।

क्रोधसे स्वपरव्यपाय— क्रोधमें आकर मुनि द्वीपायन ने अपना सर्वस्व नाश किया और नगरीका भी नाश हुआ। द्वीपायन सम्यग्दृष्टि साधु थे। सम्यग्दर्शन और सच्ची साधुता आये बिना तैजस ऋद्धि नहीं प्रकट होती। उनके तैजस ऋद्धि थी। तैजस दो प्रकारका होता है—शुभ तैजस और अशुभ तैजस। वह ऋद्धिधारी किसी नगर पर, किसी समूह पर, किसी पर प्रसन्न हो जाय तो उसके दाहिने कंधेसे उत्तम ओज निकलता है और वह सबको भला करनेका कारण हो जाता है। उनको ही किसी कारणसे क्रोध आ जाय तो बायें कंधेसे गंदा, विकराल, लाल रंगका बिलाव जैसे आकारका तेजपुञ्ज निकलता है उसके निकलते ही उसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है, अपना विनाशकर लेता है और इस नगरका, उस समूहका, उस व्यक्तिका भी सर्वनाश कर देता है, प्राणघात कर देता है।

क्रोधविनाशकी शीघ्रतामें भलाई— क्रोधका थोड़ा भी उपजना बुरा है। थोड़ा भी उपजे उसही समय सावधानी कर ले। क्रोधके कारण दूसरों से जो वचनालाप हो जायेगा उसका विसम्वाद इतना बढ़ जायेगा कि पीछे चाहते हुए भी उस झगड़ेका मिटाना कठिन हो जायेगा। इस क्रोधकी कलुषताका परिहार करना, इसका नाम है मनोगुप्ति।

मानकी कलुषता— घमंड भी बहुत कलुषित भाव है। अचरज तो यह है कि घमंडी पुरुष घमंड करके, मान बगराकर, शान जताकर अपने को समझता है कि मैं श्रेष्ठ हो गया हूं, किन्तु सारी दुनिया उसे उल्लू, बेवकूफ समझ रही है। उस घमंडी पुरुषका इस यथार्थताकी ओर चित्त ही नहीं जाता है। मान कषाय तो उन्मत्त बना देता है। ऐसे मान कषायोंका परिहार करना सो मनोगुप्ति है।

मानाचारकी कलुषता— घमंड भी बहुत कलुषित भाव है। अचरज तो यह है कि घमंडी पुरुष घमंड करके मान बगराकर, शान जताकर अपने को समझता है कि मैं श्रेष्ठ हो गया हूं, किन्तु सारी दुनिया उसे उल्लू, बेवकूफ समझ रही है। उस घमंडी पुरुषका इस यथार्थताकी ओर चित्त ही नहीं जाता है। मान कषाय तो उन्मत्त बना देता है। ऐसे मान कषायोंका परिहार करना सो मनोगुप्ति है।

मायाचारकी कलुषता— ऐसे ही माया कषाय बड़ी। कलुषता है माया छल कपट करनेको कहते हैं। मायाचारका परिणाम बहुत तीव्र कलुषता है। मनमें कुछ है, वचनमें कुछ कह रहे हैं, करना कुछ है, ऐसी अटपटी प्रवृत्ति इन जीवोंका कितना विनाश कर देती है? इस ओर मायावी पुरुषका ध्यान नहीं जाता है और कदाचित् मायाचार करके किसी दूसरे की आंखोंमें धूल झोंक दिया अथवा दूसरेका विनाश हो जाय तो उसमें यह मायावी पुरुष आनन्द मानता है। मायाचारसे बढ़कर कलुषभाव अन्य कषायोंको भी नहीं कहा गया है। मायाको शल्यमें शामिल किया है अन्य कषायका नाम शल्यमें नहीं लिया है। ऐसे मायाचार का परिहार करना इसका नाम है मनोगुप्ति।

लोभकी कलुषता— इसी प्रकार लोभ कषायका रंग भी बहुत गहरा रंग है। ये धन मकान जड़ पदार्थ जो अत्यन्त भिन्न हैं, अचेतन हैं जिससे इस आत्माकी कुछ भी भलाई नहीं है, बल्कि उनमें चित्त फंसा रहने से यह आत्मा नरककी ओर जा रहा है, पतन कर रहा है अपना। रहना अंतमें कुछ नहीं है, छोड़ देना पड़ेगा ही, किन्तु तृष्णा बनी रहे, धन वैभव में उपयोग बसा रहे तो गति और बिगड़ेगी। रहना तो कुछ है ही नहीं। गति और बिगाड़ ली जाती है। लोभ कषायका परिहार करना इसे कहते हैं मनोगुप्ति। साधुवोंके मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीनों विशुद्धि हो जाती हैं, सो प्रायः करके उन्हें अवधिज्ञान अथवा मनःपर्ययज्ञान प्रकट हो जाता है।

गुप्तिके प्रतापका एक उदाहरण— एक कथानकमें बताया है कि जब राजा श्रेणिकने रानी चेलनासे बहुत हठ किया कि तुम इस जगह साधुको आहार करावो और उस जगह हड्डियां भरवा दीं। चेलनाने उस जगह खड़े होकर यों पड़गाहा था, हे त्रिगुप्तिधारक महाराज! तिष्ठ। एक मुनि आया और एक अंगुली उठाकर चला गया, रुका नहीं। दूसरा मुनि आया वह भी एक अंगुली उठाकर चला गया। तीसरा मुनि आया वह भी एक अंगुली उठाकर चला गया और एक मुनि आया वह ठहरा ही

नहीं, मौनपूर्वक चला गया। जब कारण विदित किया गया तो मालूम हुआ कि एक मुनिने यह कहा कि मेरे मनोगुप्ति सिद्ध नहीं हुई। त्रिगुप्ति धारक कहकर पुकारा था। उन्होंने कथा भी बताई। समय नहीं है और न प्रसंग है। एकने बताया था कि मेरे वचनगुप्ति सिद्ध नहीं है; एकने बताया कि मेरे कायगुप्ति सिद्ध नहीं है और जिसको तीनों गुप्तियां सिद्ध हो गयीं उसने सोचा कि त्रिगुप्तिधारक मुनिराज कहकर यह क्यों पुकार रही है। झट कारण जाना अवधिज्ञानसे, अशुद्ध स्थान है; यहां आहार नहीं लिया। तो यही वैभव और यही महान् पुरुषार्थ है। मनका वशमें रखना, मनका शुद्ध रखना, चारों कषायोंका परिहार करना—इसे मनोगुप्ति कहते हैं।

भैया! इतनी तो कमसे कम अपने लिए भी शिक्षा लें कि यदि मनसे सब प्राणियोंके हितकी बात सोची जाय तो उसमें तुम्हारा भला ही है, बिगाड़ कुछ नहीं है। तुम केवल भाव ही बना सकते हो। किसी दूसरे का कुछ कर नहीं सकते। जब केवल भाव बनाने तक ही तुम्हारी हद है तब शुद्ध भाव ही क्यों न बनाये जायें। सर्वप्राणियोंका हित सोचें सर्वसुखी हों, शुद्ध दृष्टि बने, ज्ञानका उजेला पायें। ज्ञानसे बढ़कर इस जीवका लाभ लोकमें कुछ नहीं है। शुद्ध ज्ञान ही शरण है। बड़ी सम्पदा हो, राजपाट हो, फिर भी ज्ञान विपरीत है, अट्टसट्ट है, अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति है तो उसे चैन तो न मिलेगी, अशांति ही रहेगी। और कोई दूसरा धनहीन भी है अथवा धनका त्याग करके संन्यासी हुआ है, वह तो अपने आपमें ज्ञान-सुधारसका स्वाद लिया करता है। ज्ञान ही सुख शांतिका परम आधार है। इसलिए सही ज्ञान रहे, सब जीवोंके प्रति हमारा पवित्र परिणाम रहे, किसीको भी कष्ट मेरी चाहसे न आये, ऐसी वृत्ति बनाना हम सबका कर्तव्य है। यों मनको वशमें रखने वाले साधुजन चारों प्रकारकी कषायों का परिहार करते हैं।

मनुष्यको मनोगुप्तिकी आवश्यकता— संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय पाकर भी इस जीवको मनकी हैरानीसे इतना विह्वल होना पड़ता है कि जिसमें बहुत अधिक कर्मबन्ध हो जाया करता है, इतना कर्मबंध असंज्ञी पंचेन्द्रिय नहीं कर सकता। चौइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, दोइन्द्रिय इन सबमें उत्तरोत्तर कर्मोंकी स्थिति कम बँधनेकी योग्यता है। सर्वाधिक कर्मोंकी स्थितिका बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय कर पाता है। यह मन बिगड़ता है तो ऐसा बिगड़ता है कि ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका महान कर्म यह ही बांधता है मनको वशमें करना यह शान्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। मनसे जैसा

चाहे वैसा प्रवर्तन करना मायामय इस दुनियामें इस मायामय रूपको देख कर इनमें अपनी शान चाहना, इनमें अपना बड़प्पन चाहना, मनको यों स्वच्छन्द चलाना, ये क्लेशके ही कारण हैं। संतजनोंका आभूषण, सर्वोत्कृष्ट आभूषण मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति वहां हो सकती है जहां मोहका अभाव है।

मोहविस्तार— मोह होते हैं दो प्रकारके। दर्शनमोह और चारित्र मोह। दर्शनमोहमें श्रद्धा बेहोश रहती है और चारित्रमोहमें चारित्र बेहोश रहता है। दर्शनमोहका नाम है अज्ञान और चारित्रमोहका नाम है राग और द्वेष। अज्ञान, मोह, मुग्धता, मूढ़ता, पर्यायबुद्धि, बहिरात्मापन ये सब दर्शनमोहकी लीलाएँ हैं। रागद्वेष सुहा जाय, न सुहा जाय यह सब चारित्र मोहका विलास है। कैसी स्थितियां होती हैं कि अन्तरमें दर्शनमोह रंच नहीं है, निजको निज परको पर यथार्थरूपसे जान रहे हैं, फिर भी कैसी पुरातन प्रेरणा है कि इस ज्ञानी संतको भी किन्हीं परिस्थितियोंमें कुछ सुहाये और कुछ न सुहाये—ऐसी स्थितियां आती हैं। इन स्थितियोंमें उसका तो आभार मानों, धन्यवाद मानों, जो इतनी स्वच्छता आयी है कि दृष्टि कलंकित नहीं हो रही है। फिर भी इतना खेद है कि भिन्न पदार्थोंके प्रति कुछ सुहा जाने और कुछ न सुहा जानेका परिणाम हो रहा है।

मोह और राग द्वेषमें अन्तर— मोहमें और रागद्वेषमें अन्तर है। कोई रोगी इलाजके खातिर औषधि पीनेमें रागद्वेष कर रहा है तो औषधि विषयक उस रोगीके रागद्वेष तो है, किन्तु औषधिसे मोह नहीं है। औषधि से राग है, यदि दवा न मिले समय पर तो द्वेष भी हो जाता है, जो समय पर औषधि दे दे उससे राग भी हो जाता है, पर औषधिसे मोह रंच भी नहीं है। ऐसे ही ज्ञानी पुरुषकी ऐसी मोहनीय स्थिति हो जाती है कि विषयभोगोंमें, परपदार्थोंमें, मौजमें, मोह रंच नहीं है। फिर भी कुछ प्रेरणा है ऐसे संस्कारोंकी और बाह्यमें कर्मोदयकी है कि इसे फिर भी कुछ राग और द्वेष हो जाता है। मनोगुप्ति उसके होती है जिसके दोनों प्रकार का मोह नहीं होता। मोहका परिहार किया जा रहा हो। जैसे दूसरेका बालक रूपमें भी सुन्दर हो और चतुराईकी बातें भी बोलता हो, साथ ही विनयशील और आज्ञाकारी भी हो, सबको पहिले प्रणाम कर देता हो, तो वह सुहा तो जाता है पर उसमें मोह नहीं रहता है जब कि अपने घरका पैदा बालक चाहे आज्ञा न मानता हो, कुछ थोड़ा रूपमें भी हीन हो फिर भी मोह रह सकता है। मोहसे बढ़कर कलंक कोई नहीं है इसको।

समागममें प्रसन्नताका अकारण— भैया! कितना श्रेष्ठ मनुष्यभव

पाया है ? हम अपने जगत्के जीवोंपर दृष्टि पसार कर देखें तो सही कि हम आपने कितनी ऊँची स्थिति पा ली है ? अब ऐसे अनुपम जीवनमें अपने आत्माके दर्शन और अनुभवका आनन्द न लूटा तो फिर काहेके लिए यह जीवन हुआ ? किसीसे कहा जाय कि हम तुम्हें दो दिनके लिए राजा बनाए देते हैं, दो दिन बाद तुम्हारे पास जो भी अट्टसट्ट है यह सब छीन कर तुम्हें तौलिया मात्र पहिना कर जंगलमें फेंक दिया जायेगा। ऐसे दो दिनके राज्यको कौन चाहेगा ? ऐसे ही यह मनुष्यभव क्या है ? दो दिनको राजा बन गया है। देखो ना बड़ेसे बड़ा बलवान भैंसों पर, ऊंटों पर हाथियों पर अपना राज्य चलाता है, अंकुश चलाता है, हुकूमत चला रहा है। राजा है यह मनुष्य। यह जब अन्य बड़े मनुष्यों पर दृष्टि डालता है तो अपनेको तुच्छ अनुभवने लगता है, किन्तु व्यापक दृष्टिसे लोकके सकल जीवों पर दृष्टि डालकर निहारो तो जरा, कितनी श्रेष्ठ स्थिति पायी है राजापनेकी ? पर बनाया तो है तुम्हें दो दिनका राजा, लेकिन इसके बाद तुम्हारे पास जो कुछ अट्टसट्ट है वह भी सब छुड़ाकर तुम्हें दुर्गतियोंमें पटक दिया जायेगा, ऐसी स्थिति मालूम हो तो कौन प्रसन्न होगा दो दिनके राज्यमें ?

विपदाके पूर्ववर्ती सुखमें क्या आराम— जिसे फांसीका हुक्म होना है उसे फांसी पर चढ़ानेसे पहिले, उसके आगे मिठाइयोंका थाल रक्खा जाता है, खूब छक्कर खावो जीवनमें भी न देखा हो ऐसा मिष्टान तो उसे मिठाई खाना न रुचेगा, उसकी दृष्टि तो दूसरी जगह है। यों ही इस संसार महावनमें बड़ी-बड़ी दुर्गतियां हो रही हैं, ऐसी स्थितियोंके बीचमें जिस ज्ञानी संत पुरुषको संसारकी असारता विदित है उसे अनेक भोग साधन भी प्राप्त हो जायें तो क्या वह उनमें चन मानेगा ? नहीं मानेगा।

निर्मोहताकी प्रतिमूर्ति— साधुसंत क्या हैं ? भगवानकी एक प्रतिमूर्ति है। भगवानकी मुद्रा और साधुकी मुद्रा दोनों एक प्रकार हैं सो ही निर्ग्रन्थ भगवान्, सो ही निर्ग्रन्थ साधु। बाह्य तो एक रूप है, और यदि कोई अंतरंगमें गृहस्थसे भी गया बीता हो तो उसमें फिर क्या बात हुई ? कुछ भी नहीं। किन्तु अन्तरंगसे प्रभुसे होड़ लगाये हुए हो, वीतरागताकी प्रगतिमें चल रहा हो वह साधु तो भगवानकी प्रतिमूर्ति है। ऐसे साधु संतों के मोहका परिहार होता है। जहां मोहका परिहार है वहां मनोगुप्ति है।

मनोगुप्तिमें आहार संज्ञाके परिहारमें— जहां संज्ञावोंका परिहार है वहां मनोगुप्ति हैं। संज्ञाएँ चार हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह। आहारविषयक वाञ्छा होना सो आहार संज्ञा है। इससे पहिले एषणा

समितिके प्रकरणमें यह स्पष्ट आया था कि साधु संत आहार करके भी अनाहारी रहा करते हैं। उसमें भी जितने मात्रमें आहारविषयक वृत्ति है, आहार विषयक वाञ्छा है वह आहार संज्ञा है। उस आहार संज्ञाका भी जहां परिहार हो वहां मनोगुप्ति है।

शून्यता व परिपूर्णता— भैया! सच बात तो यह है कि इतना साहस होना चाहिए कि अपनेको ऐसा मान ले कि मैं दुनियाके लिए कुछ नहीं हूं, मैं हूं तो अपने लिए हूं अर्थात् दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिए, दूसरोंमें बड़ा बननेके लिए मैं कुछ नहीं हूं, अपनेको शून्य समझे। शून्य रीता होता है कि पूर्ण? पूर्ण होता है। शून्य दिखनेमें यों लगता है कि रीता होता है, मगर शून्य पूर्ण होता है। शून्यमें ऐसी पूर्णता है कि उसमें यह भी विदित नहीं होता कि यह कहांसे शुरू होता है और कहां खत्म होता है? बना लो शून्य सलेट पर बनाकर किसीको दिखावो कि शून्य शुरू कहां से हुआ और खत्म कहां हुआ? जब शून्यका आदि नहीं है और अंत नहीं है तो बीच क्या होगा? तो जैसे शून्य आदि अंत मध्य करि रहित है, यों ही मैं शून्य हूं, आदि मध्य अन्त करि रहित हूं। व्यवहार दृष्टिसे मैं दूसरे पदार्थके लिए कुछ नहीं हूं इसलिए शून्य हूं और निश्चयदृष्टिसे मैं अपने आपमें आदि मध्य अंतसे रहित हूं, परिपूर्ण हूं, सो शून्य हूं, परसे विविक्त हूं। रीता कौन होता है जो शून्यसे मिट कर कुछ पसरना चाहता है। वही प्लेट पर लिखा हुआ शून्य अपनी शून्य अवस्थाको छोड़कर कुछ यदि पसरना चाहेगा तो उसमें आदि, मध्य, अंत व अधूरापन हो जायेगा। अपनेको शून्य न देखकर कुछ बननेकी कोशिश करना यह अधूरापन है। अपनेको निरखो कि मैं समस्त परपदार्थोंसे विविक्त हूं और अपने आपमें परिपूर्ण हूं।

धर्म व शान्तिका एकाधिकरण— प्रतिष्ठापना समितिमें आया था कि मल मूत्र करना शरीरके धर्म हैं और फिर खाना पोना—ये भी शरीरके धर्म हैं। आत्माका धर्म ज्ञाता द्रष्टा रहना है। जहां धर्म है वहां नियम से शांति है। लोकमें जो यह प्रसिद्ध हो गया है कि जहां धर्मके झगड़े हैं वहां देशकी बरबादी है। और झट समझमें भी आता है, इतिहासोंमें भी देखो जितने झगड़े फसाद हों, बरबादी हो, कलह हो वे सब धर्मके नाम पर हैं। आजकल जितने सम्प्रदायके विवाद चलते हैं वे सब धर्मके नामपर चलते हैं। अरे धर्मसे विवाद नहीं, धर्मसे अशांति नहीं किन्तु धर्मके साथ जो पाप लगे हुए हैं, धर्मकी ओटमें जो पाप आगे चल रहा है उससे विवाद झगड़े हैं।

धर्मकी ओटमें पापका प्रसार— एक किसान था। उसके थे तीन बैल। ऐसी हालतमें तो दो ही बैल जुतेंगे, सो एक बैलको घरमें बांध आता था और बांध जाता था आंगनमें, जिस जगह उस जगहकी भींतमें एक अलमारी थी, जिसमें किवाड़ भी लगे थे, सांकर भी लगी थी। सो जाते समय वह दाल रोटी चावल उस अलमारीमें धर जाता था, सांकर लगा देता था। जब वह खेतोंसे वापिस आता था तो देखे कि अलमारीमें कुछ नहीं है। और यह देखे कि बैलका मुँह दालसे भिड़ा हुआ है। होता क्या था कि एक बंदर आया करता था, वह धीरेसे सांकर किवाड़ खोले और भोजन कर जाय, अंतमें जो दाल चावल बच जाय उसे उस बैलके मुखमें लगा दे। कुछ दिनों तक वह देखता रहा। एक रोज उसे बड़ा गुस्सा आया सो वह उस बैलको पीटने लगा। किन्तु पड़ौसियोंने कहा कि इतनी निर्दयतासे तू इस बैलको क्यों पीटता है? वह बोला—अरे पीटें नहीं तो क्या करें। हम रोज-रोज भोजन बनाकर रख जाते और यह बैल रोज इस अलमारीसे निकाल कर खा जाता है। लोगोंने कहा अरे ऐसा कैसे हो सकता है? इसमें सांकर लगी रहती है, अलमारी ऊँची है वह कैसे खा लेता है? किसान ने कहा देखो ना मुखमें दाल रोज लगी रहती है। तो पड़ौसियोंने समझाया कि यह बात नहीं है, किसी दिन छिपकर देख लो कि मामला क्या है? छिपकर उसने देखा तो क्या देखा कि धीरेसे एक बंदर आता है वह जंजीर खोलकर किवाड़ खोलकर सारा भोजन खा जाता है और बचे हुए दाल चावलको अंतमें बैलके मुखपर लगा देता है।

अप्रभावनाका कारण पाप— तो प्रयोजन इसमें इतना है कि जैसे बंदरकी करतूतसे बैल पिटा, ऐसे ही पापकी करतूतसे धर्म पिटता है। धर्ममें दोष नहीं है। धर्म तो आनन्द और शांतिके लिए है। भला साधु हो गये, नदीके तट पर रहने लगे, संन्यासी हो गये, ठीक है। संन्यासी इस लिए हुए कि सर्वचिंतावोंको छोड़कर अपने आपके शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का खूब चिंतन करें और शुद्ध आनन्दका अनुभव किया करें। ज्ञाताद्रष्टा रहें, यह है संन्यासी होनेका उद्देश्य। पर जब यह प्रवृत्ति चल जाय कि कोई बहू बेटी वहांसे निकल आये या कोई पुरुष निकल आये तो उससे कुछ छल करे, कुछ अनुचित वृत्तियां करे तो साधु समाजकी बदनामी हो जाती है। कैसे साधुसमाज आज हो गये हैं कि लोग कहते हैं कि फलाने तीर्थपर जानेका तो धर्म ही नहीं है, न जाने कोई कैसे फंस जाय, किसीके चंगुलमें आ जाय, यह अपवाद बन गया। यह धर्मका अपवाद नहीं है। धर्मकी ओटमें जो पापका प्रसार होता है उसकी करतूत है।

धर्मका वास्तविक पालन— धर्म तो ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें है। हम आत्मा हैं, हमें अपना धर्म करना है। हमारा धर्म जो सम्प्रदायरूपमें फैला है वह नहीं है। मैं तो ज्ञान, दर्शन स्वभावी चैतन्य सत् हूं। मैं मनुष्य नहीं हूं। फिर मनुष्यताके नाते से जो कोई अटपट बातें प्रसिद्ध हैं उनमें कुछ अच्छा है, करे, सहायक है, करे तिस पर भी अच्छा हो तो, बुरा हो तो वे सब आत्माके धर्म नहीं हैं। आत्माका धर्म है ज्ञानदर्शन, ज्ञाता द्रष्टा रहना। जैसा इसका स्वतंत्र स्वतः सहजस्वरूप है उस स्वरूप रूप विकास होना यह है धर्म। इस आत्मधर्मका पालन जो करे वही धर्म करता है। इस ओर दृष्टि रहनी चाहिए।

मनोगुप्तिका मूल उपाय— वस्तुस्वरूपको यथार्थ बताने वाला जैन शासन पाकर भी हम वस्तुपद्धतिसे धर्म न करें तो बड़े खेदकी बात है। हम जैन हैं, हमें जैन धर्मके अनुसार हाथ पैर चलाने चाहियें ऐसे आशय की चेष्टामें धर्म नहीं है। मैं तो एक चेतन सत् हूं, ऐसी प्रतीति के सहारे अपने अंतस्तत्त्वमें प्रवेश करे और ज्ञाताद्रष्टा रहेगा तो इसे मिलेगा धर्म। ऐसा करना प्रत्येक कल्याणार्थीका कर्तव्य है। इस धुनको रखकर हमें अपने उस चैतन्यधर्मकी प्रगति करना है मन, वचन, कायके कार्योंको गुप्त करना है, वश करना है, दूर करना है और अपना जो शुद्ध सहज ज्ञायक-स्वरूप है उसका विकास करना है। साधुसंतजन ऐसी ही मनोगुप्तिका यत्न करते हैं।

अपमानामृत—जिन संत पुरुषोंने अपने मनको वश किया है उनके आहारसंज्ञाका अनुराग होना तो दुर्गम बात है। साधुसंत इतने हृदयमें स्वच्छ और बली होते हैं कि उनका कितना भी कदाचित् अपमान हो जाय तो वे अपने मनमें कलुषित भाव नहीं लाते हैं। लौकिक जनोंको अपमान जहां विषवत् है, वहां साधुजनोंको अपमान शृङ्गार है। अपमान का अर्थ ही यह है कि अपगत हो गया है मान घमंड जिसमें। अपमान होना उत्तम बात है। मान न रहे उसका नाम अपमान है, किन्तु लौकिक-जनोंके लिए अपमान मरणकी तरह है किन्तु सम्यग्दृष्टिके लिए, ज्ञानी संत पुरुषोंके लिए अपमान अमृतकी तरह है। हो किसी ज्ञानीमें ऐसी धुन कि वह चाह करे कि मेरे लिए विपरीत प्रसंग आयें और उसही प्रसंगमें क्रोध पर विजयी रहं, मेरे लिए अपमानके अनेक प्रसंग आयें और मैं मान कषाय पर विजयी रहूं। माया और लोभकी तो वहां चर्चा ही नहीं है। ऐसे साधु संत पुरुष आहारसंज्ञासे दूर रहते हैं। मनोगुप्तिमें ये सब लक्षण आये हुए हैं।

भयसंज्ञाके परिहारमें मनोगुप्ति— जहां भय संज्ञाका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति है। भय लगा हुआ हो और मन वश रहे यह कभी हो ही नहीं सकता। मनोगुप्ति जहां है वहां भयका नाम कहां है? निर्भय हों तो स्वरक्षा है, मनकी गुप्ति है। इस मोही प्राणीके निरन्तर भय बना रहता है। कोई भय जब अधिक डिग्रीपर पहुंचता है तब अनुभवमें आता है। अनेक भय अनगिनते भय इस मोहीमें आते हैं और उन्हें वह महसूस भी नहीं कर पाता है। परपदार्थोंमें यदि राग है तो भय भी नियमसे होता है, चाहे वह कितनी ही मात्राका भय हो। ज्ञानीसंत जानता है कि मेरा आत्मतत्त्व समस्त परभावोंसे विविक्त केवल चैतन्यस्वरूप मात्र है। मैं तो मात्र इतना ही हूं, इससे अधिक मैं कुछ नहीं हूं। इससे जो अधिक है वह सब व्यवहारखातेका हिसाब है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। साधु पुरुष निर्भय हैं और निर्भयताके कारण मनोगुप्तिमें प्रगतिशील हैं।

मैथुनसंज्ञाके परिहारमें मनोगुप्ति— जहां मैथुनसंज्ञाका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति आती है। कामवासनाका भाव जब कुछ अधिक बढ़ जाता है तब वह महसूस होता है, उसका पता पड़ता है किन्तु कामकी भी अनेक डिग्रियां अनेकों अनगिनती हैं ऐसी कि जिनके होने पर भी यह जीव मालूम ही नहीं कर पाता कि मेरे कामभाव चल रहा है। जब उसकी अधिक मात्रा होती है तब इसे पता पड़ता है कि कामवेदनाका अनुभव होता है तथा विवेक जागृत हो तो सोचता है— ओह यह मैं अनुचित भाव वाला हो रहा हूं। पशु पक्षी कीड़ा मकौड़ा इन सबके काम भाव है, ये क्या महसूस करें? साल दो सालके बच्चे ६ माहके बच्चे इनमें भी कामभाव है, पर ये भी महसूस नहीं कर पाते। कामभावका जहां परिहार है वहां ही मन वशमें है। लोग कहते हैं कि हमारा मन वश नहीं है, कोई उपाय बतावो कि हमारा मन वश रहे, यहां वहां न डोले। जब स्वयं अपराधी है तो मन वशमें कहां रहेगा?

अपराध, फल व निवृत्तिका उपाय— देखो डाकुवोंका मन अत्यन्त अस्थिर रहता है, वे किसी ठिकाने बैठ नहीं पाते हैं क्यों कि उन्होंने अक्षम्य अपराध किया है। आहारकी संज्ञा, भयका संस्कार, मैथुनकी वाञ्छा, परिग्रहका लगाव—ये भी महान् अपराध हैं। इतने बड़े अपराध को करने वाला यह अपने मनको कैसे स्थिर रख सकेगा? अपराधको दूर करें फिर मन स्थिर न हो तब तुम्हारी शिकायत हो कि मेरा मन स्थिर नहीं है। यत्न करें अपराधके दूर करनेका। वह यत्न है वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान। प्रत्येक जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न है, द्रव्य गुणपर्याय

सर्वचतुष्टय परका परमें ही हैं मेरा मुझमें ही है, किसीकी कितनी ही चेष्टावोंसे कितनी ही पोलें बताने से, कितने ही मनके दुर्ध्यानोंसे इस मुझ में रंच भी परिणमन नहीं होता, हो ही नहीं सकता। वस्तुमें वस्तुका वस्तुत्वका बड़ा दृढ़ दुर्ग है, जिसमें अन्य वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता। फिर मेरे लिए इस लोकमें भय क्या है ? मैं ही भीतरमें भयकी बात रक्खूँ तो भय सामने आ जाता है।

निर्भयमें भयका उद्गमस्थान— खरगोशके पीछे शिकारी कुत्ते जब छोड़े जाते हैं तो खरगोश छलांग मारकर बहुत आगे निकल जाता है और एक बड़ी गुप्त झाड़ीमें छिप जाता है जिस झाड़ीमें बहुत निगाह करके देखने पर भी खरगोशका पता नहीं पड़ सकता। वह खरगोश उस झाड़ीमें सुरक्षित रहता है। कुत्ते भी वापिस लौटने वाले हैं। बहुत दूर रह गये हैं, लेकिन खरगोश अपने भीतरमें कल्पनाएँ बनाता है। कहीं कुत्ते आ तो नहीं रहे हैं ऐसा देखनेके लिए झाड़ीसे बाहर निकलकर देखता है। लो कुत्तोंने देख लिया, अब फिर पीछा करने लगे। अरे झाड़ीमें बैठा था बड़ा सुरक्षित था, रंच भी क्लेश न था, किन्तु भीतर ही एक भय बनाया तो बाहर भी भय आ गया। यों ही ज्ञानी समझता है कि मेरा स्वरूप पर-पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है, स्वयं सुरक्षित है। इस मुझका सामर्थ्य नहीं है कि किसी अन्यमें बिगाड़ कर सके। किन्तु यहां ही एक कल्पना उठती है चित्तमें और पर वस्तुमें अनुराग करके अपनी पर्यायमें राग करता है। मैं मनुष्य हूं, अरे जब यह मान चुका कि मैं अमुक चंद हूं, अमुक लाल हूं तो अब उसे इस अमुककी शान बढ़ानी पढ़ेगी। अरे बाह्यमें किसीकी शान रह ही कैसे सकती है ? जब कल्पित विपरीत घटनाएँ आयेंगी तो उन घटनावोंमें दुःखी होंगे।

न कुछसे कुछकी विडम्बना— भैया ! यह दृश्यमान् विडम्बना है क्या जगतमें। न कुछसे कुछ पैदा हो जाय ऐसी कोई मिसाल है तो वह है जीवकी एक कला और इसीलिए अन्य लोग यह कहते हैं कि यह ईश्वर सृष्टि रचता है। कुछ भी न था और केवल एक भावमात्र कर लेनेसे ये शरीर, ये पशु पक्षीके ढांचे, ये विभिन्न प्रकारके शरीर कैसे बनते चले जा रहे हैं ? यद्यपि यहां भी प्रत्येक द्रव्य स्वयंका उपादान है जो अपनी अपनी सृष्टि बनाता हुआ चला जा रहा है, किन्तु जीवका यह विभाव इन सब सृष्टियोंका निमित्त तो हुआ ना। जो ज्ञानीपुरुष वस्तुके यथार्थस्वरूप को समझते हैं उनका ही मन वशमें हो सकता है अन्यथा नहीं। इस मोही प्राणीके सिर पर कितने संकट लदे हुए हैं ? घर जावे तो घर चैन नहीं

है, देशमें कहीं जावे तो वहां चैन नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो वहां पहुंचे तो वहां भी चैन नहीं। अरे आत्मन् हे मूढ़, हे मोही, हे पर्याय के आशक्त, हे आत्मघाती तू बाहरमें चैन कहां ढूँढ़ने चला है? तू स्वयं आनन्दमय है। बाहरकी आशा तज दे, अपने ही अंतःस्वरूपको निहार ले, तुझे तो प्राकृतिक देन है कि तू चैनमें रहे। वस्तुस्वरूपके विपरीत श्रद्धानी को कहीं चैन नहीं है। सर्वत्र विडम्बना है, सर्वत्र आपत्ति है।

बेवकूफको फजीहतकी चिन्ता क्यों— एक मियां बीबी थे। मियां जी का नाम था बेवकूफ और स्त्रीका नाम था फजीहत। प्रायः दोनोंमें लड़ाई हो जाया करती थी और थोड़ी ही देरमें दोस्ती हो जाती थी। एक बार ऐसी लड़ाई हुई कि फजीहत घर छोड़कर भग गयी। तो बेवकूफ पड़ौसियोंसे पूछता फिरता है कि तुमने हमारी फजीहत देखी? लोग जानते थे कि फजीहत इसकी स्त्रीका नाम है सो कह दिया कि हमने नहीं देखी। इसी तरह उसने दसोंसे वही बात पूछी। एक बार किसी परदेशी अपरिचितसे पूछ बैठा कि भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? उसकी समझमें कुछ आया नहीं सो वह पूछता है कि तुम्हारा नाम क्या है? मियां साहब बोले कि मेरा नाम बेवकूफ है। तो अपरिचित पुरुष कहता है कि बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतकी तलाश कर रहे हो। अरे बेवकूफ को तो जगह-जगह फजीहत मिल जाती है। जहां ही औंधासीधा बोल दिया, वहां ही जूता, घूँसा, लाठी खानेको मिल गये। बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतकी चिंता क्यों करते हो?

मुग्धबुद्धिकी विडम्बनायें— ऐसे ही मोही जीवोंमें चूँकि मुग्धबुद्धि है इसके कारण इसे जगह-जगह विडम्बनाएँ हैं, कहीं जावे, कहीं बैठे इसे सर्वत्र विपदा है। कहां जायेगा? किसी स्थानपर जानेसे सुख दुःखमें अन्तर नहीं आता। परिणामोंमें अन्तर आनेसे सुख दुःखमें अन्तर आया करता है। यह ज्ञानी संत यथार्थस्वरूपका ज्ञाता है। इसके बलको कौन कह सकता है? लोग कहते हैं कि ऐटमबममें बड़ी ताकत है। ऐटमको अंग्रेजीमें लिखो कैसे लिखते हो? उसी का नाम है आतम। अरे आत्मामें बल है, ऐटममें क्या बल है? आत्माके बलकी कुछ कथनी नहीं की जा सकती। अभी-अभी आपके आंखोंके आगे ही गांधी जैसे नेतावोंने यह प्रदर्शित कर दिया कि हथियार न होने पर भी, धन पैसा न होने पर भी एक आत्माका यदि बल है तो उस आत्मबलसे इतना बड़ा एक वातावरण किया जा सकता है, साम्राज्य लिया जा सकता है।

पुनीत आत्माकी भक्तिमें यत्न— कोई पवित्रात्मा विभावका समूल

नाश करके अरहंत हो गये तो देवइन्द्र मनुष्य सभीके सभी अपनी पूरी सामर्थ्य लगाकर समारोह शोभा भक्ति किया करते हैं। वह क्या है? वह आत्मबलका प्रताप ही तो है। जब ही अरहंत स्वरूपकी स्मृति होती है, रागद्वेष जहां रंच नहीं हैं केवल शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूप है ऐसे ज्ञान मात्र उस शुद्ध परमात्मतत्त्वकी स्मृति होती है तो चित्तभक्तिसे गद्‌गद्‌ हो जाता है। ओह! जिन पुत्र, मित्र, स्त्रीके खातिर जिन बंधु, मित्रोंके खातिर जिन रिश्तेदार, देवर, पति आदि पुरुषोंके खातिर अपना जीवन तन, मन धन न्यौछावर कर करके व्यतीत कर डाला। अंतमें फल क्या निकला? कुछ भी नहीं। रीताका रीता, बल्कि जो कुछ पूर्वजन्ममें लाये थे शुद्ध संस्कार वह भी गंवाकर चला। इसकी प्रीतिमें रंचहित नहीं है। किन्तु उन अरहंतकी प्रीतिमें, उस धर्ममय आत्मतत्त्वकी प्रीतिमें महान् हित है। जिस किसी भी महाभागसे बने, कायदे मुताबिक प्रीति करो। ज्ञानमूर्तिकी भक्तिसे क्षण भरमें ही भव-भवके संचित कर्म दूर हो जाते हैं।

यथार्थज्ञानबलसे मनोगुप्तिके धारणका स्मरण—वस्तुस्वरूपका जैसा यथार्थज्ञान है और उस ज्ञानके परिणाममें जिसने अपना प्रायोगिक परिणमन समतारूप बनाया है ऐसे ज्ञानी संत पुरुषके मनोगुप्ति होती है जहां परिग्रहका रंच भी संस्कार है वहां मनोगुप्ति नहीं होती है। देखो ज्ञानी गृहस्थमें भी इतना आत्मबल है कि लाखों करोड़ोंकी प्राप्त हुई सम्पदासे भी अत्यन्त न्यारा भिन्न ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीति रख सकता है। तब इससे अंदाज लगावो कि साधु पुरुषके परिग्रहसे कितनी परमविरक्ति होगी? उनको तो उनका आत्मा उनके हाथ पर रक्खे हुएकी तरह स्पष्ट बना रहता है। जहां परिग्रहका परिहार है वहां मनोगुप्ति होती है। पंचमहाव्रत पंचसमितियोंका पालन करनहार साधुसंतोंको साधु संतोंको महाव्रत और समितिमें ही संतोष नहीं रहता है। वे इन तीन गुप्तियोंके अर्थ ही अपना अंतःप्रयत्न रखा करते हैं। गुप्तियोंमें न ठहर सके तनका काम है महाव्रत और समिति। गुप्तियोंमें श्रेष्ठ मनोगुप्ति है। यद्यपि कायगुप्ति, वचनगुप्ति भी साधनामें बड़े सहायक हैं किन्तु ये भी गुप्तियां दोनों क्यों की जा रही हैं कि मनोगुप्ति बने। जहां आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चारों संज्ञावोंका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति होती है। मिले तो कोई ऐसा निष्ग्रह परपदार्थोंके सम्बन्धसे अपने महत्त्वकी प्रतीति न रखने वाला, सबसे न्यारा, वह प्रायः सबका प्यारा हो जाता है। जिनका मन वश नहीं है उनका जीवन क्या जीवन है? वे व्याकुल रहते हैं और चिंतित रहते

हैं। सर्वप्रयत्न करके अपनी मनोगुप्तिको संभालना चाहिए।

साधुपुरुषके रागद्वेषका परिहार— मनकी गतिको स्वरूपानुभवके विरुद्ध जानकर इस मनको वशमें रखनेके उद्यमी साधुसंत जन सदा सावधान रहते हैं। जिन कृत्योंमें राग और द्वेषकी प्रवृत्ति विदित होती है उसे वे दूर कर देते हैं। ऐसे प्रसंगोंमें रागद्वेषकी बातकी कथा दूर रही, जब कोई भी धर्मचर्चा करता है और उस चर्चाके मध्य कभी कोई बात समताकी सीमासे कुछ अधिक हो जाती है अथवा होने लगती है यह उस धर्मचर्चा को भी समाप्त कर देता है। जिस प्रसंगमें राग अथवा द्वेषकी स्थिति हो वह धर्मचर्चा नहीं है। वह तो अपनी हठोंका पक्षोंका इच्छाका संपादन करना है। धर्मचर्चाके समय यदि कोई अपनी बात नहीं मानता है और उसपर अपनेको खेद होता है तो यह अपना अपराध है। यदि वहां खेद होना है तो समझो कुछ धर्मचर्चा न कर रहा था वह, किन्तु अपनी हठचर्चा कर रहा था तब उसे दुःख हुआ। यदि वह मात्र धर्मचर्चा होती तो न मानने पर कुछ भी विषाद न होता। ज्ञाताद्रष्टा रहना। जगतमें अनन्त जीव तो हैं जो धर्मसे विमुख हैं। एक जीवने, दो जीवोंने बात न मानी उसका इतना बड़ा विषाद बन जाना, यह तो मोहको जाहिर करता है। धर्मचर्चाके प्रसंगमें साधुसंतोंके राग और द्वेष नहीं रहता है।

मनोगुप्तिमें शुभ अशुभ दोनों रागोंका परिहार— राग दो तरहके होते हैं। एक शुभ राग, दूसरा अशुभराग। शुभराग तो वह है जहां धर्ममें लगनेका कुछ प्रसंग है। गुरुभक्ति, देवपूजन, स्वाध्यायकी व्यवस्था, सत्संग परोपकार, दान आदिक ये सब शुभ राग हैं। अशुभ राग वह है जिसके माध्यमसे विषय और कषायोंको बल मिलता है। अशुभ रागकी बात अधिक क्या कहें सारा जहान प्रायः अशुभ रागमें ही लीन है। मनोगुप्ति वहां ही संभव है जहां शुभराग और अशुभराग दोनोंका परिहार है। ज्ञानी संतोंको अपने आपके उस शुद्धस्वरूपके जौहरका इतना अधिक परिचय है कि उसे शुभराग भी यों दिखता है जैसे लोग कहते हैं—ऐसा सोना किस कामका जो नाक कानको फाड़ दे।

शुभरागमें रागके आशयकी कथा— भैया ! शुभरागमें जिन्हें राग है उनकी कथा भी थोड़ी सुन लीजिये। शुभरागसे ही हमारा कल्याण है, हमें यह राग करना ही चाहिए। इस रागसे ही मेरा बड़प्पन है सो राग छोड़नेका स्वप्नमें भी ध्यान नहीं रखते हैं। वे मिथ्याबुद्धि वाले हैं, उनकी दृष्टि ही विपरीत है। जो व्यक्ति सीधा शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका लक्ष्य न रक्खें वह दृष्टि सही दृष्टि नहीं है। निज सहजस्वरूपको छोड़कर अपनेको नाना

रूप मानना, वे सब दृष्टियां विपरीत दृष्टियां हैं। शुभराग और अशुभराग को अपनाने वाले जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं।

ज्ञानीकी समागममें अरुचिपर दृष्टान्त— जैसे ए क्लासकी कैदमें पड़ा हुआ कैदी मिले हुए बहुत ठाठ बाटसे भी राग नहीं रखता है, उसे जेलखानेमें बड़ी सुविधायें दी गयीं, खूब बढ़िया मनपसंद भोजन करे, उसके लिए एक रसोइया भी रक्खा जाय, जितना चाहे खर्च करे, जेब खर्च भी मिले, जिस तरहसे घरमें रहता है उस तरहसे जेलमें रहे, ऐसा ए क्लासका कैदी अपने पाये हुए समागममें, आराममें राग नहीं करता है। ऐसे ही ए क्लासका संसारका कैदी पुण्योदय वाला धनिक राजा महाराजा ज्ञानीपुरुष अपने पाये हुए समागममें राग नहीं करता है। वह तो सोनेकी बेड़ी को भी बंधन समझता है। इन भिन्न असार परवस्तुवोंमें रागके परिणाम होनेको गंदगी मानता है। और जैसे सी क्लासके कैदी चक्की पीसने, बोझा ढोने, खेती करने आदि जितने भी उनसे काम कराये जाते हैं और पीड़ाएँ देते हैं, क्लेश होते हैं—जैसे उन क्लेशोंमें उन्हें रुचि नहीं है ऐसे ही ये ज्ञानी पुरुष भी कदाचित् पाप उदयके कारण सी क्लासके कैदी बनकर बड़ी विपत्तिओंका बोझ होते हैं, फिर भी उनके राग विरोध नहीं है।

अज्ञानीकी उद्दंडता— इसके विपरीत धनिक राजा महाराजा अज्ञानी पुरुष पाये हुए समागमको छोड़ना नहीं चाहते। इन समागमोंके खातिर अन्याय करना पड़े, धर्मका विरोध करना पड़े, सब कुछ करनेको तैयार हैं। खोटा रोजिगार, खोटी कम्पनियां, कषायीखाना और बड़े गंदे होटल कितने ही काम करने पड़ें, धर्मका विरोध करना पड़े तो वह धर्मका विरोध करके अन्याय करके भी मस्त रहना चाहते हैं, अपनाना चाहते हैं और पापका उदय आने पर उससे भयभीत होते हैं और इतना ही नहीं, अपने विषयसाधनोंके खातिर तो बड़े कष्ट भी सहने पड़ते हैं। परदेश जा रहे हैं, सवारियोंमें भिंचे हुए जा रहे हैं, खड़े-खड़े जा रहे हैं, भूखे प्यासे रहते हैं, इन सब कष्टोंको भी खुशी-खुशी सहते हैं और अपने मोह ममताकी खोटी दृष्टि भी नहीं छोड़ सकते। ये शुभराग और अशुभ-राग यों ही नृत्य कर रहे हैं।

साधुओंकी परमोपेक्षा— साधु ज्ञानी पुरुष किसी प्रकारके रागको अपनाता नहीं है, ऐसे ही द्वेषपरिणामका जहां परिहार है वहां ही मनोगुप्ति है। द्वेष परिणाम एकांततः अशुभ है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं है। वे जैसे हैं, तैसे पड़े हुए हैं, किन्तु हमारा ही जब

अन्तरका परिणाम मलिन होगा तो उन पदार्थोंमें किसीको इष्ट मान लेते हैं और किसी पदार्थको अनिष्ट मान लेते हैं।

धर्मपात्रताके लिये नीतिशास्त्रका वर्णन— नीतिशास्त्रमें लिखा है कि धर्मको वही पाल सकता है जो ऐसा हृदय बनाये हुए है कि मृत्यु मेरे केशोंको पकड़े हुए बैठी है, न जाने कब झकझोर दे और मुझे इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा। नीतिशास्त्र कहता है कि विद्या और धन, इन दोनोंका उपार्जन तो तब किया जा सकता है जब यह जानें कि मैं अजर अमर हूं, न मैं बूढ़ा होऊँगा, न मरूँगा—ऐसी पूर्ण दृष्टि न हो तो थोड़ी बहुत भी हो तो धन कमा सकते हैं और विद्या प्राप्त कर सकते हैं। कोई ऐसा ही विश्वास लिए हो कि हम तो आज ही मर जायेंगे तो वह सोचेगा कि धन क्यों कमायें और ये व्याकरणके जीवस्थानके शास्त्र काहेको पढ़ें, शामको तो मरण ही हो जायेगा, तो जिसे अपने आपके ध्यानमें अजरत्व और अमरत्वकी बात नहीं है वह विद्या और धनका संचय नहीं कर सकता है। इसी प्रकार जिसको यह विश्वास न हो कि मृत्यु मेरे केशोंको पकड़े हुए बैठी हुई है, जब चाहे उठा ले जाय, ऐसी मनमें बात न जमे तो धर्मका पालन भी उत्तम रीतिसे नहीं हो सकता।

विवेकमें धर्मकी प्रतीक्षा— भैया! जरा इसका अंदाज ही कर लो। जब कोई कठिन बीमारी हो जाती है, जिसमें यह दिखता है कि अब तो मेरी मौत होने वाली है उस समय धन वैभव परिजन वगैरह कुछ नहीं रुचते हैं और यह इच्छा होती है कि कुछ समय और जीवित रहता तो मैं केवल धर्म ही धर्मका प्रोग्राम रखता। उन सुभटोंकी बात नहीं कह रहे हैं कि जो मरनेके समय भी आत्महितकी रंच भी कल्पना नहीं लाते। उन्हें विषयोंकी प्रीति ही सुहाती है। मरते समय भी कहते हैं कि मेरी स्त्रीसे मिला दो, पुत्रसे मिला दो जिससे आंखें तृप्त हो जायें। ऐसे विषय कषायोंके प्रेमी सुभटोंकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु जिनमें जरा भी विवेक है उनको मृत्युके समय धर्मकी चाह होती है। धन वैभव परिवार इन सब की रुचि नहीं रहती है।

धर्मकी उन्मुखतामें मनोगुप्तिकी संभवता— धर्म है ज्ञाताद्रष्टा रहना अर्थात् रागद्वेष मोहके मलिन परिणाम न होने देना। इस ओर जिनकी उन्मुखता होती है उनका मन वश हो जाता है। यह बात उनके ही सम्भव है जो वस्तुस्वरूपके यथार्थ विज्ञानी हैं। वे ही मनोगुप्तिका पालन कर सकते हैं। मनोगुप्तिके सम्बन्धमें उत्कृष्ट बात तो यह है कि चिंतन सब रोक दें और अनुत्कृष्ट बात यह है कि अशुभ चिंतनको बिलकुल समाप्त कर दें।

यह मन खाली नहीं बैठा करता। यहां जितने पुरुष बैठे हैं इतने ही मन हैं और सबके मन अपनी-अपनी कम्पनीको संभाले हुए हैं, जिनका जैसा जो कुछ चिंतन है। मन धर्मकी ओर कुछ कहीं लग रहा है और किसी तरह लग रहा है, कुछ बाहरसे भी हटा हुआ है, कुछ धर्मकी बातमें भी चित्त लगा हुआ है और लो फिर यह कुछ हट गया। फिर यहां लग गया, कैसी विचित्र परिणतियां कर रहा है यह मन।

मन मरकटको शुभमें उपयुक्त करनेकी आवश्यकता— अहो, यह मन बंदरसे भी अधिक चंचल है। बंदरोंको देखा होगा कि वे खाली नहीं बैठ सकते। जब नींद आ जाय तो चाहे थोड़ी देर पड़े रहें, पर जागते हों तो स्थिर नहीं बैठ सकते। कहीं पैर हिलाया, कहीं हाथ हिलाया और उनकी आंखें तो बड़ी ही विचित्र हैं। कैसा मटक ही हैं कि जरासी देरमे आंखोंमें टोपी लग जाती है जरा सी देरमें टोपी हट जाती है। कैसी विचित्र चंचलता है? उससे भी अधिक चंचल यह मन है। इस मनको किसी न किसी शुभ कार्यमें जुटाये रहना चाहिए यदि अपना कल्याण चाहते हो। इसे शुभ कार्य न मिलेंगे तो अशुभ कार्योंमें लग बैठेगा। इस तरह ज्ञान ध्यान पूजा, सत्संग, परोपकार, सेवा-इन कार्योंमें भी लगना चाहिए। इन शुभ कार्योंमें मन लगा होगा तो यहां इतनी पात्रता है कि उन शुभकार्योंका भी परिहार करके क्षण मात्र तो अपने आपके शुद्धज्ञायक स्वरूपका अनुभव कर सकेगा।

मनको अभीक्ष्ण कार्यमें लगानेकी आवश्यकता पर एक दृष्टान्त— एक राजा था, उसने देवता सिद्ध किया। देव सिद्ध हो गया तो राजासे कहा राजन्! जो तुम कहो वही काम क्षणभरमें कर देंगे। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। राजाने कहा—अच्छा एक महल बना दो। झट महल बन गया। कहा राजन् काम बतावो। काम न बतावोगे तो तुम्हारी जान ले लेंगे। अच्छा वहां तालाव बनादो। बन गया वहां तालाव। राजन्! काम बतावो। वहां सड़क बनादो। बन गयी वहां सड़क। फिर कहा—राजन् काम बतावो नहीं तो तुम्हारी जान ले लेंगे। वह बड़ी चिंतामें पड़ा, सोचा कि अब क्या करें? समस्याका एकदम बुद्धिने हल कर दिया। देव कहता है राजन् काम बतावो। अच्छा ६० हाथकी एक लोहे की डंडी लावो। आ गई डंडी। काम बतावो। अच्छा एक ६५ हाथ लम्बी जंजीर लावो। आ गई जंजीर। राजन काम बतावो। अच्छा इस जंजीरका एक छोर डंडीमें बांध दो। लो बांध दिया। राजन् काम बतावो। अच्छा इस जंजीर का एक सिरा बंदर बनकर अपने गलेमें फंसावो। लो बन गये बन्दर,

गला फांस लिया। राजन् काम बतावो। अच्छा जब तक हम नहीं कहें तब तक तुम इस डंडीमें चढ़ो और उतरो। लो बारबारके चढ़ने और उतरनेमें वह परेशान हो गया। हाथ जोड़कर देव कहता है, राजन! माफ करो, हम अपनी वह बात वापिस लेते हैं कि काम न बतावोगे तो हम तुम्हारी जान ले लेंगे। हम अपने वचन वापिस लेते हैं और तुम जब भी हमारी याद करोगे तब हम तुम्हारा काम आकर कर देंगे।

शिवस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें मन लगानेका परिणाम—यह मन बंदर से भी अधिक चंचल है, इसे तो ऐसा काम बतावो कि जिस काममें रह कर फिर यह अपना काम भी छोड़ दे। कौनसा काम ऐसा है कि जिस काममें रहकर यह मन अपना काम हठ छोड़ सकता है? विषय और कषायोंके पुष्ट करने वाला यह काम ऐसा नहीं है कि इस काममें रहकर यह मन अपना काम छोड़ दे। खूब खोज करो—ऐसा कौनसा काम है कि जिस काममें रहकर यह अपना काम भी छोड़ दे? वह काम है निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके दर्शन करनेमें इसके ध्यान और चिंतनमें मनको लगाना। इस ओर जरा मन तो लगे, बस, फिर वह अपना काम छोड़ देता है और तब आत्मानुभूति प्रकट हो जाती है। भले ही हमारी गड़बड़ोंके कारण हमारी कायरता और कमजोरीके कारण फिरसे मन हम पर हावी हो जाय पर कार्य ऐसा है यह कि जिस कार्यमें रहने पर यह मन अपने कार्यको भी त्याग देता है।

आत्मचारित्रके अर्थ अपना कर्तव्य—भैया! अपने मनको अशुभ-कार्योंसे हटाकर शुभ कार्योंमें लगाना यह अपना कर्तव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथार्थज्ञान करके समग्र वस्तुवोंके यथार्थ सहजस्वरूपके ज्ञातादृष्टा रह सकना, यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकारके राग और द्वेषसे दूर रहते हैं, ऐसे समग्र अशुभ परिणामरूपी आस्रवोंका परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूंकि बाह्य वस्तु है, आत्माके स्वभावकी बात नहीं है ऐसे उस मनको वशमें करनेकी बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छताको प्रकट करनेमें स्वच्छता बर्ते और अन्तरमें स्वच्छता जब जाग्रित हो जाय तो वहां यह मन भी विलीन हो जाय। निश्चयचारित्र तो यह है। इस प्रकार तीन गुप्तियोंमें से यह उत्कृष्ट मनोगुप्तिका वर्णन अब समाप्त होनेको है।

मनोगुप्तिका अद्भुत चिन्तन—यह गुप्ति नहीं साधुसंत जनोंके प्रकट होती है जिन्हें चिन्ता केवल परमागमके अर्थकी है। इसे चिंता नहीं

कहते हैं—चिंतन, ध्यान, चिंतवन ये सब एकार्थक हैं, सो इसका तात्पर्य यह हुआ कि तत्त्ववेदी वस्तुस्वरूपके पारखी जितेन्द्रिय पुरुषके ही मनोगुप्ति हो सकती है। जब यह मन चंचल रहता है तो कैसी विह्वलताकी स्थिति रहती है, यह बात उनके देखिये उदाहरण रूपमें जिनके इष्टवियोग हो गया है अथवा कोई अचानक आर्थिक बड़ा टोटा पड़ गया है या जो अपनी इज्जत पोजीशन के लिए ही जिन्दा हैं, जिनके पोजीशनमें कुछ थोड़ासा बट्टा लग गया है उनके निकट बैठकर परखलो कि जिनका मन चंचल है उनकी कैसी दशा हुआ करती है? इस आत्मतत्त्वका तो द्रव्यमन कुछ नहीं है और भावमन भी इसका अंतस्तत्त्व नहीं है, फिर उस मन घोड़े के आधीन होकर अपने आपको कैसा रुलाया जा रहा है? अपने मनको वशमें करो, अशुभ चिंतन तो छोड़ ही दो और शुभ चिंतनमें रहकर भी इससे भी उत्कृष्ट चिंतनरहित शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका ध्यान बनाये रहो।

जिनचरणचञ्चरीक गुप्तमस्तक साधुपरमेष्ठी—यह मनोगुप्ति उन्हीं पुरुषोंके प्रकट होती है जो अंतरंग और बहिरंग सर्व प्रकारके संग प्रसंगों से दूर हैं, जिन्हें अनन्त आनन्दमय विज्ञानघन जिनेन्द्रदेवके चरणोंका स्मरण निरन्तर बना रहता है, जिनकी दृष्टि कार्यपरमात्मतत्वकी ओर और कारण परमात्मतत्वकी ओर रहा करती है—ऐसे ज्ञानी संत पुरुषोंके मनोगुप्ति होती है। ऐसी मनोगुप्तिके धारक पवित्र रत्नत्रयकी मूर्ति साधु परमेष्ठियोंको हमारा भावनमस्कार हो। अब इसके बाद वचनगुप्तिका लक्षण कहा जा रहा है।

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा ॥६७॥

दुर्वचनपरिहारकी आवश्यकता— इस गाथामें वचनगुप्ति का स्वरूप कहा गया है। पापके कारणभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा इत्यादि वचनोंका परित्याग करना अथवा अशुद्ध वचनोंकी निवृत्ति करना, इसे वचनगुप्ति कहते हैं। वचनोंको जितना कम बोला जाय उतना आत्मबल बढ़ता है। परमात्मतत्त्वके प्रदीपनके लिए तो सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि यह बाह्य वचनोंका त्याग करे और और अन्तर्जल्पका भी सम्पूर्णरूपसे त्याग करे, हितकारी भी वचन हों, सत्य भी हों तिस पर भी वचनोंका परिहार करें वहां वचनगुप्ति प्रकट होती है। फिर जो अत्यन्त दुर्वचन हैं, भोगोंमें ले जानेके वचन हैं उनका तो परिहार सर्वप्रथम आवश्यक है।

विकथायें— ऐसे वचन मुख्यतया चार प्रकारके हैं—स्त्रीकथा राजकथा, चौरकथा, भोजनकथा। जिसके कामभाव बढ़ रहा है, ऐसा कामी पुरुष स्त्रीसम्बन्धी संयोगवियोग वाली नाना प्रकारकी रचना करता है, ऐसी स्त्रीकथाका कहना अथवा सुनना ये दोनों पापके कारण हैं। राजावोंकी चर्चा करना युद्धादिककी वार्ता करना ये सब राजकथा हैं। कल्याणार्थी पुरुषको राजकथा भी न करनी चाहिए। चौरसम्बन्धी कथाका नाम चौरकथा है। चोरीका उपाय बताना अथवा यहां वहां की सम्पूर्ण चोरीकी कलावोंका वर्णन करना यह सब चौरकथा है। जब भोजनसे प्रीति बढ़ जाती है तब वह भोजन पानकी प्रशंसा किया करता है, अमुक प्रकारसे अच्छा भोजन बनता है, भक्ष्यथालापी घी शक्कर आदिकी बनी हुई चीजोंकी प्रशंसा करता है। भोजनसम्बन्धी रागको व्यक्त व पुष्ट करने वाली बात कहना भोजनकथा कहलाती है।

साधुसंतोंके असत् कथावोंका अभाव— ये चारों प्रकारकी कथायें साधु संतोंके नहीं होती हैं। इन कथावोंमें से प्रायः करके आजके त्यागी लोग स्त्रीकथा तो किया ही नहीं करते। वह तो बहुत ही भद्दी बात है; कुछ प्रयोग देशकथाका व राजकथाका हो जाता है और कुछ प्रयोग भोजन कथाका हो जाता है। जिनकी इन्द्रियोंमें इतनी आसक्ति है कि वे भोजन करनेके बाद भी भोजनकी कथा करते हैं—यह चीज ऐसी बनी है, यह ठीक नहीं बनी है, ऐसी भोजनकथा करने वाले लोग महा गये बीते कहे जाते हैं। इन कथावोंकी निवृत्ति हो तो वचनगुप्ति बन सकती है अथवा असत्य वचनोंका न कहना सो वचनगुप्ति है।

सकल वचनपरिहारकी भावना— सर्वोत्कृष्ट तो, किसी भी प्रकारके वचनोंका न कहना, वचनोंका पूर्ण संन्यास होना सो वचनगुप्ति है। जिस ज्ञानी पुरुषको ऐसा विश्वास है कि विश्व में कोई भी अन्य पदार्थ मेरा नहीं है या अन्य पदार्थविषयक परिणमन भी ऐसा नहीं है जो मेरे लिए हितकर हो और शांतिका कर सकने वाला हो, फिर किसकी चर्चा करूँ ? लोकमें जो कुछ दिखता है वह जाननहार नहीं है और जो जाननहार तत्त्व है वह दीखा नहीं करता। तो फिर मैं किससे वार्तालाप करूँ ! जड़से बात करने में लाभ क्या ? चैतन्यसे बात की नहीं जा सकती। इस कारण अब किससे बोलें, ऐसी भावनासे भरा हुआ ज्ञानी पुरुष वचनगुप्ति का पालन करता है।

आत्मप्रशंसा व परनिन्दाके वचनोंका परिहार— जो अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा करें उनकी दीनताका तो वर्णन ही क्या किया जाय ? वे

तो मायामय असार असमानजातीय पर्यायोंसे अपने बड़प्पनकी भीख मांग रहे हैं तब तो वह अपने मुँह अपनी प्रशंसा कर रहे हैं। सर्वप्रकारके आत्मप्रशंसाके भी वचनोंका परिहार होना सो वचनगुप्ति है। आत्मप्रशंसा और परनिन्दा ये ऐसे दुर्वचन हैं कि इनके कारण नीच गोत्रका बंध होता है और फिर समझने वाले सब जानते हैं। वे जानते हैं कि यह दुनियामें अपनी प्रशंसाकी बात सुननेका अत्यन्त इच्छुक है। यह कितना घमंडी है, क्रूर आशय वाला है कि दूसरोंको तुच्छ जानता है और निन्दा किया करता है। जिन्हें वचन संयममें प्रवेश करना है उन्हें सर्व प्रथम इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपनी प्रशंसाके वचन और दूसरेकी निन्दाके वचन न बोले जायें। इनसे बड़प्पन नहीं होता, किन्तु तुच्छता जाहिर होती है।

ज्ञानीका परमें अनुरागका अभाव— ज्ञानी संत जानता है कि क्या बोलना, किसकी बात बोलना, किसी भी पदार्थसे मेरा सम्बन्ध नहीं, हित नहीं, तो बोलना किस बातसे? बोलनेके लिए कुछ है ही नहीं, बाह्यपदार्थों में मेरा कुछ करनेके लिए है ही नहीं, किसका करना, क्या किया जाय, क्या किया जा सकता है? यह आत्मा ज्ञानमात्र भावात्मक एक चैतन्य-स्वरूप है। परपदार्थमें इस आत्माकी गति नहीं है, कुछ काम ही नहीं पड़ा है करनेको। यह तो केवल अपने भाव बनाता चला जाता है। अपने भाव बनानेके सिवाय अन्य कुछ नहीं करता। यह धन मेरा है, इस भावके बनाने वाले तुम हुए पर धन तुम्हारा नहीं है। एक अणुमात्र भी इस जीव का कुछ नहीं है, ऐसे ही मिल गया, ऐसे ही बिछुड़ जायेगा। ज्ञानीपुरुष समागममें रंच भी विश्वास और अनुराग नहीं रखते, ममत्व परिणाम नहीं करते। वे ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं। तो जिस ज्ञानी पुरुषको बाहरी पदार्थोंमें करनेको कुछ नहीं रहा, करने को कुछ पड़ा है तो अपने आपमें अपने विवेकका काम पड़ा हुआ है। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि बाहरमें बोलना क्या? किसकी बात बोलना, कुछ भी वचन बोलने से इस मनका हित नहीं है। हम बाह्यवाणीका त्याग करते हैं और अन्तर्वाणीका भी परित्याग करते हैं। ऐसे अशेषरूपसे संन्यासमें प्रवृत्त हुए अन्य आत्माको परमात्मतत्त्वका दर्शन होता है।

श्रद्धानमें प्रभुताके दर्शन— कोई लोग पूछते हैं—ईश्वर है, कहां है? मुझे तो दिखता ही नहीं, विदित ही नहीं होता। अरे श्रद्धान हो तो ईश्वरका दर्शन होता है। उस प्रभुका दर्शन बाह्यक्षेत्रमें न होगा। प्रभुके ही दर्शनकी बात क्या, किसी भी पदार्थ का विज्ञान बाह्यक्षेत्रमें नहीं होता,

आत्माके प्रदेशोंमें ही होता है। जैसे इन बाहरी पदार्थोंको जो आंखों दिखा करता है। उसके जाननेका उद्यम अंतरंगमें होता है और अंतरंगकारणसे होता है। यों ही प्रभुको भी जानना हो तो उसका प्रयत्न अंतरंगमें करना होगा, और अंतरंगकारणकी विधिसे करना होगा। वह विधि यही है कि सत्य श्रद्धान बनावो। मैं आत्मा अपने सत्यके कारण अपने आप सहज कैसा हूं उस स्वरूपका दर्शन करें, श्रद्धान करें। और बाह्यमें समस्त पदार्थ अहित हैं, जुदे हैं, हैं वे, उनका मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं है ऐसा जानकर सर्व प्रकारकी चिंतनाएं, कल्पनाएं छोड़ दी जायें, एक परमविश्राम पायें तो अपने आपमें प्रभुके ज्ञानानन्दके अनुभवकी पद्धतिसे दर्शन दे देगा और तब इसे यह सुविदित हो जायेगा कि मेरा शरण, मेरा प्रभु, मेरा सर्वस्व यह मैं सहज ही हूं। यही स्वभाव जिसका द्रष्ट हो चुका है उसे रागद्वेषका मल रंच भी नहीं रहा है, ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्द मात्र भगवान्का श्रद्धान हो तो प्रभुके दर्शन होते हैं।

हार्दिक अनुरागकी प्रेरणा— एक अखबारमें कथा लिखी कि एक पुरोहित एकादशीको भोग चढ़ाया करता था। उसके बहुत सी गाय भसे थीं। उसके पास एक छोटी उमरका बरेदी लड़का था। जब वह पुरोहित भोग चढ़ाने न जा सके तो उस बच्चे से कह दे कि आज भगवान्का भोग तुम लगा देना। एक बार उस बच्चेसे कहा, बेटा! तुम गाय चराने जावो और वहां तुम भगवान्को आज भोग लगाना। लो यह पाव भर आटा। लड़का बोला कि पाव भर आटेसे क्या होगा, भगवान् भी खायेंगे, हम भी खायेंगे। कमसे कम दो के लायक तो दे दो। पुरुहित बोला कि यों ही भगवान्का नाम लेकर कह देना और फिर स्वयं सब खा लेना। तो पाव भर आटा लेकर वह चला। पहिले से ही सोच लिया कि पाव भर आटे के दो टिक्कड़ बनायेंगे, एक भगवान्को खिलायेंगे और एक स्वयं खायेंगे। सो उसने वहां जाकर दो टिक्कड़ बनाये और कहा आवो भगवन्! भोग लगावो। कोई न आया तो वह अड़कर बैठ गया और कहने लगा, अरे भगवन् तुम बड़े निर्दयी हो, आते क्यों नहीं, जब तक तुम नहीं आवोगे तब तक मैं न खाऊंगा। तो होते है ऐसे ही कोई व्यंतरदेव जिनको कि कौतूहल अप्रिय होता है, जैसे कि लोकमें प्रसिद्ध है। भगवान् जैसा रूप बनाकर आ गया खूब सजधज कर। तब वह लड़का बोला कि मेरे पास दो ही टिक्कड़ हैं, हम भूखे तो रह नहीं सकते। इसमें एक आपके हिस्से का है और एक हमारे हिस्सेका है। वह मायामयी रूप था, खा लिया। बादमें वह लड़का कहता है कि अबकी दफे तो तुमने बहुत हैरान किया

अबकी एकादशीको मत हैरान करना। और वह भगवान् बोला कि अब की दफे हम दो जने आयेंगे।

हार्दिक अनुरागका विस्तार— अब दुबारा पुरोहितने कहा, जावो बेटा भगवान्का भोग लगावो। वह लड़का कहता है कि उस बार तो हम भूखे रह गये। इस बार तो दो आयेंगे तो कमसे कम तीनके लायक तो आटा दो। वह पुरोहित जानता था कि ये गप्पें हैं। खैर, दे दिया आधा सेर आटा। इस बार उसने वहां पर तीन टिक्कड़ बनाये। वे दो जने आये। बांट दिया एक-एक टिक्कड़। वे भगवान् कह गये कि अब की दफे हम २०–२५ आदमी मय संगीतके आयेंगे। पुरोहितने जब उस लड़केसे कहा कि जावो बेटा भगवान् का भोग लगावो तो वह लड़का कहता है कि इस बार तो २०-२५ लोग आयेंगे। थोड़ेसे आटेसे क्या होगा? कमसे कम २०-२५ लोगोंके लिए तो दो। पुरोहित जानता था कि यह गप्पें करता है। लेकिन १०, ५ सेरकी पूड़ियां बनवा दीं और लड़केसे कह दिया कि जावो बेटा, भगवान्का भोग लगावो। वहां पर उस लड़केने जाकर भगवान्का भोग लगाया। पुरोहित उस दृश्यको देखनेके लिए जंगलमें जाकर एक पेड़के नीचे छिप गया था। थोड़ी देरके बादमें पुरोहितने देखा कि २०, २५ आदमी खूब सजधजकर मय संगीतके आ गए हैं। वह सोचने लगा—अरे यह क्या हुआ है? मेरी तो जिन्दगी भोग लगाते लगाते व्यतीत हो गयी, आज तक कभी न आये, पर आज यह क्या हो गया? यह एक कथा एक मासिक अखबारमें निकली हुई थी।

आत्मवार्ता— उक्त कथासे रहस्य केवल इतना लेना कि जो श्रद्धान और संकल्प सहित अपने भावोंको दृढ़ रखता है उसको उसही प्रकारका अवलोकन होता है। यह तो एक कथा मात्र है, पर अपनी ही बात और अपनी श्रद्धामें रहे फिर अपनेको दर्शन न मिले, यह तो कभी हो ही नहीं सकता। आत्मसंतोप सत्य श्रद्धानके बिना नहीं हो सकता। ऐसा आत्म-संतोप सत्य श्रद्धानके बिना नहीं हो सकता। ऐसा आत्मसंतोषी ज्ञानी पुरुष बाह्यमें यह निरख रहा है कि कौनसा पदार्थ ऐसा है जिसकी चर्चा की जाय जिसकी बात बोली जाय अथवा जिसके सम्बन्धमें रुचिपूर्वक स्वच्छन्द वचनालाप किया जाय। ऐसा जानकर ये ज्ञानी साधु संत वचनगुप्तिका पालन करते हैं। जानबूझकर मुँह बंद करके वचन न बोलना, यह तो केवल व्यवहारमात्र वचनगुप्ति है। यों तो कभी-कभी लड़के भी खेल-खेलमें होंटमिसा कड़ा मौन रखते हैं। जैसे कोई ऐसे खेल कबड्डी वगैरह खेलें जिसमें लड़के लोग चीं बुलाकर रहते हैं, उसे पकड़ते हैं, घसीटते हैं कि

वह बोले चीं। वह तो नहीं बोलता चीं। ऐसो जबरदस्ती का मौन रहना अन्तरमें कुछ लाभ नहीं देता है। लाभ तो वह मौन देता है जो तत्त्वज्ञान-पूर्वक है।

निश्चय व व्यवहारवचनगुप्ति— किसी भी प्रकारके वचनालापसे अन्तरमें कुछ राग उठा करता है, ऐसी स्थितिमें कुछ जान बूझकर सहज प्रयोजनके लिए जो वचनपरिहार किया जाता है वह है व्यवहारगुप्ति। और अज्ञानपूर्वक जबरदस्ती वचनोंका बंद करना, होंठमें होंठ चिपकाकर मौन रह जाना, ये तो सब उसकी उपचार चेष्टाएँ हैं; किन्तु सहजस्वभावसे ही जो वचनालापका परिहार हो जाता है यह है निश्चयवचनगुप्ति। इस आत्माका स्वभाव वचन बोलनेका नहीं है। यह तो आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमात्र अमूर्ततत्त्व है। यहां कहां भाषा पड़ी है यहां कहां वचनालाप पड़े हैं? यह वचनोंसे अत्यन्त दूर है, ऐसे निरपेक्ष आत्मतत्त्वकी दृष्टि रखनेमें जो सहज वचनालाप बंद हो जाता है उसका नाम है निश्चय-वचनगुप्ति। ज्ञानी पुरुष बाह्य वचनोंका सर्वथा अंतरंगसे परित्याग करता है।

अन्तर्बहिर्जल्पनिवृत्त साधुवोंकी साधना— अंतरंगमें अन्तर्जल्पका परित्याग होना बहुत बड़ी निर्मलताका काम है। कोई बात अतरंगमें भी न उठे, कोई वचन रचना अंतरंगमें भी न आये, ऐसी साधना बहुत तत्त्व-ज्ञानकी दृढ़ अभ्यास भावनासे होती है। इन गुप्तियोंका परिहार करके यह योगी अपने आपमें परमविश्राम लेता है। यह ही परमात्माको प्रकट करने वाला परमार्थ योग है। निकट भव्यपुरुष भव भयको उत्पन्न करने वाली वाणीका परित्याग करता है और शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्व का ध्यान करता है। इस प्रक्रियासे उनका कर्म पाप तिमिर दूर होता है और अनन्त आनन्दके निवास परमविकासरूप प्रकाश प्रकट हो जाता है। ऐसे साधुसंत जो दोनों प्रकारके वचनालापोंसे निवृत्त होकर अपने अंतरमें अंतस्तत्त्वकी भावनामें ही निरत रहते हैं, वे बड़े अतिशय प्रभाव को प्रकट करते हैं। शुद्ध होना, संकटोंसे मुक्त होना इससे बढ़कर और इस जीवका अतिशय हो क्या है? ऐसे महान् अतिशयकी प्राप्ति इस वचनगुप्तिसे प्रकट होती है। हम वचनगुप्तिके कुछ-कुछ निकट पहुंचे, यों मौनसाधनासे आत्मतत्त्वका एक परमविकास प्रकट होता है। यह ही कल्याणका मार्ग है।

बंधणछेदणमारणआकुञ्चण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति ॥६८॥

कायगुप्तिके विवरणका संकल्प— मनोगुप्ति, वचनगुप्तिके वर्णन के पश्चात् यहां कायगुप्तिका स्वरूप कहा जा रहा है। बांधना, छेदना, मारना, सिकोड़ना तथा फैलाना इत्यादि शरीरकी क्रियावोंकी निवृत्ति कर देना सो कायगुप्ति है। किसी भी जीवको बांधना नहीं, इत्यादि उपदेशके रूपसे कायगुप्तिमें इस समय दूसरे जीवोंके प्रति चेष्टावोंका निषेध किया जा रहा है। कायगुप्तिमें दोनों ही बातें होती हैं। दूसरोंके प्रति अपने कायको न प्रवर्ताना और अपने लिए भी अपनी कायको न प्रवर्तना, सो कायगुप्ति है। इसही कायगुप्तिका विवरण इस गाथामें किया गया है।

बन्धनके प्रसाधन-- दूसरे जीवोंके बंधने में अंतरङ्ग कारण तो उस जीवके कर्मोंका उदय ही है और बहिरङ्ग कारण दूसरे जीवके शरीर का व्यापार है। किसी भी जीवका सुख अथवा दुःख मेरे उपार्जित कर्मोंके उदयके बिना नहीं हो सकता। कोई पुरुष यह जाने कि मैं इस जीवको बांधता हूं मारता हूं, यह उसका अज्ञान भरा आशय है। जो जीव अपने द्वारा दूसरेको कुछ किया हुआ तकते हैं उनकी यह आत्मघातिनी दृष्टि है। किसी जीवके बँधनेमें अतरङ्ग कारण निमित्त है और बहिरङ्ग निमित्त दूसरे पुरुषका व्यापार है। दूसरा पुरुष यदि रागद्वेषके वश होकर व्यापार कर रहा है तो उस व्यापारीकी अपने ही परिणामके कारण हिंसा हुई है और प्रायः यह ही होता है। किसीके द्वारा अन्य जीवका बंधनादिक हो तो उसका आशय खराब होता है तब चेष्टा होती है। कोई कुन्थु जीव दब जाय उसमें तो यह भी संभव है कि वह समितिपूर्वक चला जा रहा था, परिणाम भी शुद्ध था, भाव भी मलिन न था और गुजर गया जीव तो बंध नहीं होता, पर बांधने जैसी बात तो खुदमें रागद्वेष हुए बिना, खुदका क्रूर आशय बनाये बिना हुआ नहीं करता। इस कारण यह काय-व्यापार तो नियमसे कलुषाशयपूर्ण है, यह है काययोग। कायगुप्ति जहां नहीं है उसे काययोग कहते हैं। और जो योग है सोई आश्रव है।

छेदनके प्रसाधन— किसी पुरुषको किसी पशुको, पक्षीको छेदनेका भी अंतरङ्ग कारण उसके कर्मोंका उदय है और बहिरङ्ग कारण इस प्रमत्त जीवकी काय की क्रियाएँ हैं। कोई अपने बालक बालिकावोंके नाक, कान बड़े प्रेमसे छेदते हैं। यद्यपि इसमें वह भाव नहीं है जैसा कि किसी शिकारी को पशु पक्षी या अन्यके छेदनेमें होता है। लेकिन यह भी बात नहीं है कि वहां वह आश्रवसे बच जाता हो। कोई आत्मा रागसे छेदता है, कोई द्वेषसे छेदता है। वहां द्वेषको छेदा किसी पशु पक्षीका कुछ अंग, यहां बच्चा का नाक नाक राग से छेदा। और कभी पशुवोंको भी राग से छेदा

जाता है। बैलोंकी नाक, ऊँटोंकी नाक किसान लोग छेदते हैं तो वे रागवश छेदते हैं उन्हें अपने स्वार्थसे राग है। चाहे रागसे छेदें, चाहे द्वेषसे छेदें, वह तो आश्रव है, कामभोग है। छेदनेका अंतरंग कारण उस जीवके कर्मों का उदय है और बहिरङ्ग कारण उस प्रमादी की कायक्रिया है। कोई सोचे कि अरे इतना तो श्रम कर रहा है और उसे प्रमादी कहा जा रहा है। ठीक है, वह मोक्षमार्गका प्रमादी है। मोक्षमार्गकी ओर उसकी दृष्टि तक भी नहीं है।

मरणके प्रसाधन और एक जिज्ञासा— इसी प्रकार किसी जीवको मारने में जो कायविकार होता है वह भी काययोग है, मारनेका भी अंतरंग कारण तो उस मरनेवाले जीवकी आयुका क्षय है और बहिरङ्ग कारण किसी भी दूसरे जीवके कायका विकार है। कुछ ऐसा लग सकता है कि किसीका जीवन बना देना तो अपने हाथकी बात नहीं है, पर मारना तो अपने हाथकी बात है। कोई जीवको पैदा करदे यह तो वशकी बात नहीं है पर मारने में तो वश है ना। फिर मारने में भी मुख्यता तुम दे रहे हो। मरने वाले की आयुके क्षयकी। उसकी आयुका विनाश हो तो मरण होता है। समयसार जी में खूब लिखा भी है कि आयुकर्मके उदयके बिना जीवन नहीं होता, आयुकर्मके क्षयके बिना मरण नहीं होता। जब तत्त्वपर दृष्टि दें तो ये दोनों ही बातें सही लगती हैं अन्यथा हम यह कह सकते हैं कि जिन्दा कर देना सो हमारे हाथकी बात है। माचिसकी सींक ली और खींचकर जला दिया तो देखो हमने आग पैदा करदी कि नहीं? हमारे हाथकी बात है ना कि हम तुरन्त जीव पैदा करदें।

परके द्वारा परके जीवन मरणका अभाव— भैया! न तो जीवन अपने वशकी बात है, न दूसरे जीवका मरण अपने वशकी बात है। ऐसा मात्र निमित्तनैमित्तिक योग है कि दूसरे जीवके कायका व्यापार पायें और उसका निमित्त पाकर हमारी आयुकी उदीरणा हो जाय, बीचमें ही अपघात हो जाय। मर गया, पर मरण नाम तब कहलाया जब उसकी आयु पूर्ण खिर जाय, वह चाहे किसीका निमित्त पाकर बने। इस जीवका यदि कुछ मार देना वशकी बात हो तो देव, नारकी, तद्भवमोक्षगामी और असंख्यात वर्ष आयुवालोंको क्यों न कोई मार दे? हां, अपवर्त्यायुष्कोंमें यद्यपि ऐसा ही योग है फिर भी मरण नाम दूसरेके व्यापारका नाम नहीं है, किन्तु आयुके क्षयका नाम है। यों ही जीवन भी किसीके हाथकी बात नहीं है। माचिसकी सींक खींच कर लगा दिया कि आग पैदा हो जाती है, उसमें एक तो यह बात है कि तैजस काय जीवोंसे भरा हुआ यह लोक है और वे सूक्ष्म

रूपसे या शुभरूपसे जन्मते और मरते रहते हैं। सो आगका निमित्त पाकर अग्निकायके जीवोंका विकास हो गया। फिर दूसरी बात यह है जो सम्भवत: ठीक भी होगी। अग्निकाय और बाकीके सभी स्थावर दो प्रकार के हुआ करते हैं। कुछ अग्नि ऐसी होती हैं कि अग्निका शरीर मात्र है, पर जीव नहीं है। सम्भव है कि आपके उन सब प्रयोगोंमें कोई जीव भी आ गया हो, कोई अग्निजीवसहित हो, कोई, जीवरहित हो, पर इसका आप नियम नहीं समझ सकते। इस कारण साधुसंत जन अग्निकायके प्रयोगोंसे दूर ही रहते हैं। कुछ हो जीवका मरना उनकी आयुके क्षयके बिना नहीं होता। यह तो हुआ उनके मरणका अंतरंग कारण। और दूसरे पुरुषका कायविकार हुआ बहिरंग कारण।

आकुञ्चन प्रसारणका योग— इसी प्रकार किसी जीवको सकोड़ दिया या किसी जीवको फैला दिया यह भी काययोग है, हिंसाकी बात है। जैसे केंचुवा है, लट है, कुछ है, इन्हें पकड़कर अथवा लकड़ीसे फैला रहे हो और किसी जीवको जरा दाब भी दें तो ये सब भी काययोग हैं, हिंसाकी बातें हैं। इसका भी परिहार कायगुप्तिमें रहना है। ये सब मोटी मोटी बातें कही जा रही हैं। परके प्रति जो कायचेष्टा होती है उसके निषेधकी बात कही जा रही है, यों ही किसीको सिकोड़ देना, किसी जीव को हल्का बना देना यह भी काययोग है, इसका भी जहां निषेध है वहां कायगुप्ति होती है; ऐसी इस कायकी क्रियाकी निवृत्ति कर देनेका नाम कायगुप्ति है। यह कायगुप्ति परके प्रति कायव्यापारका निषेध करने वाला कहा गया है, पर अपने लिए भी कायकी चेष्टाओंका परिहार करे तो कायगुप्तिका पूर्ण रूप होता है।

कायगुप्तिकी अलुपमता व महत्ताका एक उदाहरण— जिस समय राजा श्रेणिकने किसी जगह हड्डियां गड़वाकर चेलनासे जबरदस्ती आहार लगवाया था, उस समय चेलनाने ऐसा कहकर पड़गाहा था कि हे त्रिगुप्ति-धारी महाराज तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ। तब ऐसा प्रतिग्रह सुनकर एक मुनि एक अंगुली उठाकर चला गया, दूसरा मुनि भी एक अंगुली उठाकर चला गया और तीसरा मुनि भी एक अंगुली उठाकर चला गया। जब पूछा गया कि महाराज पड़गाहने पर आप चौकेमें क्यों नहीं पधारे ? तो एकने बताया कि मेरे मनोगुप्ति न थी, एक ने बताया कि हमारे वचनगुप्ति न थी और एक ने कहा कि मेरे कायगुप्ति न थी। जरा कायगुप्ति वालेकी बात सुनिये। मैं मृतकासनसे श्मशानमें ध्यानस्थ हो रहा था मरे हुए आदमी की तरह हाथ पैर पसारकर निश्चल होकर पड़ा हुआ था। देव, शास्त्र,

गुरुकी पूजामें आप पढ़ते हैं मृतकासन, वज्रासन आदि। मैं मृतकासनसे ध्यान कर रहा था। इतनेमें एक मंत्र सिद्ध करने वाला कोई पुरुष आया उसको जरूरत होगी मरे पुरुषकी खोपड़ी पर खिचड़ी पकाकर खानेकी। कोई तंत्र होता होगा। तो उसने मेरे सिर पर मरी खोपड़ी जानकर खिचड़ी पकानी शुरू करदी। उसे मैं बहुत देर तक सहन करता रहा, पर थोड़ी देर बाद मेरा शरीर हिल गया था। तो मेरे कायगुप्ति नहीं है। इस लिए मैं पड़गाहनेसे नहीं आया। उसने तो त्रिगुप्तिधारी महाराज कहकर बुलाया था।

साधुकी प्रगतिशील साधना— चेलनाने त्रिगुप्तिधारक यों कहा कि जिसके तीनोंगुप्ति हैं उसको अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान जैसी ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं। यदि ऋद्धिसम्पन्न कोई मुनि आवेगा तो वह मुनि यह सोचेगा कि त्रिगुप्तिधारी विशेषण लगाकर इसने क्यों पड़गाहा? वह जान जायेगा कि इसमें कोई न कोई बात है। साधु संत तो सच्चे होते हैं, वहां यह बात नहीं होती है कि मान न मान मैं तेरा महिमान। तो आप समझ लीजिए कि अपने आपके शरीर की वेदना भी न सह सकनेसे तो कायगुप्तिसे च्युत कहा गया है; फिर हम आप लोग कितना पिछड़े हुए हैं अथवा वे साधु संतजन जो बड़े-बड़े हाथ पैर चलायें, कुछ काम बनायें, काम करें, आरम्भ करें, महल बनवायें, धराई उठाई करें कितने वे च्युत हो गये? यही समझिये कि वे पतित हो जाते हैं। अरे न बने अपना शरीर संभालनेकी बात तो कमसे कम गृहस्थजनोंके करने योग्य आरम्भके कार्यों में प्रवृत्त तो न रहें। गृहस्थों जैसे आरंभ परिग्रहोंमें प्रवृत्त होनेमें तो प्रमत्तविरतपना भी नहीं रहता, यों संतजन कायके विकारको छोड़कर शुद्ध आत्मतत्त्वकी बारबार भावना करते हैं।

कायगुप्तिकी सूक्ष्म और पूर्ण साधना— अरे जब मेरा निष्क्रिय स्वरूप है तो अट्टसट्ट कायव्यापार करनेकी क्या आवश्यकता है? मेरेमें तो जरा भी योग हो तो वह मेरे स्वभावसे परेकी बात है। फिर जान बूझकर रागद्वेष करके मोह बढ़ा कर किसी प्रकारके विकल्पोंमें फंसकर व्यापार बनाऊँ यह तो अत्यन्त अनुचित बात है। दूसरे पुरुषके प्रति कायकी चेष्टा हो या अपने आपमें भी संकोचन प्रसारण हो, ये सब कायगुप्ति नहीं हैं। कोई ऋद्धियोंका प्रयोग करे, वैक्रियक ऋद्धिका प्रयोग क्या है हाथ पैर आदि फैलाना अथवा अन्य कोई इस अवस्थामें समुद्घात प्रसारण हुआ ये सब कायगुप्तिसे अलग चीजें हैं। भला बतलाओ कि जहां शरीरको भी वशमें किये हैं और फिर भी कारणवश समुद्घात बन गया, वेदना

समुद्घात हो गया, कषाय समुद्घात हो गया, इन उपायोंसे भी कुछ प्रसारण हो जाय तो कायगुप्तिका भंग माना गया है। फिर शरीरकी चेष्टाएँ जो मनमानी करे उसके कायगुप्तिकी तो चर्चा ही क्या करें ?

धर्मप्रवृत्तिके लिये अज्ञानियों द्वारा ज्ञानियोंमें विश्वास होनेकी आवश्यकता— जो साधुजन कामविकारका परित्याग करते हैं, बार बार शुद्ध आत्माकी सम्यक् भावना करते हैं उनका ही जन्म सफल है। जहां आनन्द भरा हो ऐसे स्वरूपकी शरणमें पहुंच जायें उससे बढ़कर इस लोकमें कुछ कार्य भी है क्या, पर करें क्या ? यहां ज्ञानियों और अज्ञानियों की झर मिलती नहीं है, क्योंकि अज्ञानी यह सोचता है कि यह ज्ञानी दुःखी है और ज्ञानी सोचता है कि ये अज्ञानी दुःखी हैं। ज्ञानीको अज्ञानीकी चेष्टा पर विश्वास नहीं है और अज्ञानीको ज्ञानीकी चेष्टापर विश्वास नहीं है। अब बतावो धर्मकी गाड़ी कैसे अच्छी तरह चले ? नीचे ऊंचे पहिया लगे हों तो बढ़िया ढंगसे धर्मकी गाड़ी चले, यह कैसे हो सकता है क्योंकि जो धर्म कर चुके हैं उनके लिए मुख्यता क्या है धर्मकी और जो धर्मसे अत्यन्त दूर हैं उनके धर्मकी मुख्यता क्या ? जो पार हो गए हैं उन्हें इस संसारसे मतलब क्या ? धर्म किसके लिये चलाना है, वे तो धर्ममय हो गए हैं। धर्म चलाया जाता है अज्ञानीजनों के लिए और अज्ञानीजन यहां हाथ भी नहीं धरते हैं। उन्हें ज्ञानियोंपर विश्वास नहीं है। तो इस लोकमें ज्ञानी और अज्ञानी की झर मिलती नहीं है। फिर भी कदाचित् कोई विरले अज्ञानी ज्ञानियोंसे मिल जाते हैं तो वे ज्ञानी बनकर संसारके संकटोंसे पार होने का उद्यम करते हैं।

झर मिलनेका अर्थ— झर मिलना किसे कहते हैं ? पहिले ऐसे ताले लम्बे चौड़े बनते थे कि उनकी तालीकी झर मिलाना पड़ती थी। किसीमें दो झर लगी हैं किसीमें तीन झर लगी हैं, उसमें कुञ्जीसे झर मिला कर ताला खोल देते थे। यों ही यह धर्मका ताला तब खुल सकता है जब ज्ञानीकी झरमें निकटभव्य किसी अज्ञानीकी झर मिल जाय तभी इस लोकमें धर्मकी प्रवृत्ति चल सकती है।

साधु संतोंका प्रताप और प्रसाद— उन साधुसंतोंका जन्म सफल है जो कामविकारको छोड़कर बारबार शुद्धआत्माकी भावनामें रत हैं। उन्हें कहीं बाहरमें कुछ शरण ही नहीं दिखता। किसको प्रसन्न करना, किससे राग करना, मुझे किसीसे मतलब नहीं, ऐसा ज्ञानीमें साहस होता है इसलिए सहज ही बारबार शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनामें ज्ञानी मुनियों की प्रवृत्ति होती है। सच्चे मुनियोंका संग मिलना, उनका सहवास मिलना,

सत्संग होना यह बड़े सौभाग्यकी बात है। जहां उपासक बारबार यह ध्यान ध्या सके, जिसकी मुद्राको देखकर जिनकी अंतरङ्ग चेष्टाका विचार करे कि अहो इनका उपयोग देखो, कैसा निरन्तर एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी ओर बना रहता है? अहो इसी लिए ये प्रसन्न हैं, इसी लिए ये सदा सुखी रहते हैं। मैं मोही पुरुष कहां इस संसारमें डोल रहा हूं। मुद्रामात्रको देखकर उदय सुन्दरका बहनोई वज्रभानु जैसा महामोही क्षणमात्रमें ही मोहरहित हो गया। आप बतलावो कि साधुके संग और दर्शनसे कितना भला होता है? वह कितना मोही था लेकिन उस साधुकी मुद्राके दर्शनकर इतना बड़ा प्रताप हुआ कि उसका भला हो गया। ये साधु संत निरन्तर अपने शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानमें रहा करते हैं। जो ऐसे साधुजन हैं उनके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सम्यक् विधिसे चलते रहते हैं, उनका ही जन्म सफल है।

निश्चयके सहवाससे व्यवहारके प्रतापका सम्बन्ध— इन गुप्तियोंके प्रकरणमें यहां तक व्यवहारनयसे मनोगुप्ति क्या है, वचनगुप्ति क्या है और कायगुप्ति क्या है—इसका वर्णन किया गया है। अब यह बताया जाएगा कि निश्चयनयसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति क्या है? इसमें मनोगुप्ति और वचनगुप्तिके वर्णनमें एक गाथा आएगी और कायगुप्तिके वर्णनमें स्वतन्त्र एक गाथा आएगी। इससे यह विदित होगा कि ओह, निश्चयकी मनोगुप्ति बिना, निश्चयकी वचनगुप्ति बिना, निश्चयकी कायगुप्ति बिना वह गुप्ति भी श्रमरूप रहती है, पर उतनी लाभप्रद वह नहीं हो सकती, जितनी निश्चयगुप्तिके साथ रहकर लाभकर होती है। अब उन्हीं गुप्तियोंका वर्णन चलेगा।

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥६६॥

मनोगुप्ति— मनसे रागादिक दूर हो जाना, इसका नाम है मनोगुप्ति। यद्यपि रागादिक आत्मासे दूर होते हैं, लेकिन मनोगुप्तिके प्रकरणमें इस भावमन को जो कि आत्माका एक परिणमन है, उससे रागादिकका हटाना बताया गया है। इससे यह तत्त्व भी निकलता है कि आत्मा तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, उसमें राग है कहां जो हटाया जाए। आत्माके परिणमनमें राग है, पर्यायमें राग है, स्वभावमें राग नहीं है, इसलिये पर्यायभूत भावमनसे रागादिकको हटा देनेको मनोगुप्ति कहते हैं। यहां निश्चय मनोगुप्तिका लक्षण कहा जा रहा है। समस्त मोह रागद्वेषोंका अभाव होनेसे जो अखण्ड अद्वैत परमचित्स्वरूपमें स्थिरताके साथ स्थिति

होती है, उसका नाम है निश्चयमनोगुप्ति।

निश्चयमनोगुप्तिका प्रताप— जो पर्यायें होती हैं वे ही हटायी जा सकती हैं। द्रव्य स्वभाव गुण—ये निकालेसे भी कभी हटते नहीं हैं। मोह रागादिक—ये विभावपर्यायें हैं। यद्यपि इनका हटाना इनके निमित्तभूत कर्मोंके हटानेके अनुसार है, तथापि कर्मों पर दृष्टि देकर कर्मोंको हटानेका प्रयत्न करके ये विभाव नहीं हटाये जाते हैं। एक आत्मप्रयत्नसे ही, ज्ञानरूप पुरुषार्थसे ही अपने आपमें से विभाव हटाया जाता है और इस प्रयत्न का निमित्त पाकर ये द्रव्यकर्म स्वयं अपनी परिणतिसे हट जाया करते हैं। जो साधु संत ऐसी निश्चयमनोगुप्तिका पालन करते हैं, वास्तवमें मनका वश होना उनके ही हो सकता है अन्यथा मनको वश करना जिन्दा मेंढ़कोंको तौलनेके बराबर है। जैसे कि जिन्दा मेंढक तौले नहीं जा सकते हैं—जरा ५ सेर जिन्दा मेंढक बड़ी तराजूके एक पलड़े पर रखकर तौल दो तो क्या कोई उन्हें तौल सकता है? नहीं तौल सकता है, एक रक्खेगा तो एक उचक जायेगा, फिर एक रक्खेगा तो एक दो उचक जायेंगे, वे तराजूमें रक्खे ही नहीं रह सकते हैं, यों ही यह मन वश नहीं किया जा सकता है। यदि निश्चयमनोगुप्तिकी छाया इसमें उज्ज्वल हो जाय तो यह मन वशमें किया जा सकता है। अन्यथा एक जगह मनोरोध करोगे तो संभव है कि उस जगह मन न आये पर दूसरी जगह मन चला जायेगा।

मनकी नपुंसकता— यह मन चंचल है और साथ ही यह मन होने को तो बड़ा हावी है, छाया हुआ है लेकिन मन नपुंसक है, यह किसी भी विषयको भोगनेमें समर्थ नहीं है। यह तो खेल देखता है और उस खेलको देख-देखकर खुश होता है। जैसे कोई नपुंसक किसी प्रकारसे विषयभोगके योग्य नहीं है लेकिन यह नपुंसक केवल खेल देखता है और वहां ही बात बनाकर, बातूनी होकर अपने मनको राजी करता है। यों ही यह मन शब्दोंसे भी नपुंसक है और कार्यसे भी नपुंसक है, इन्द्रियां विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं वहां कुछ काम नजर आता है। वह यद्यपि खोटा काम है लेकिन समझमें तो आता है कि हां कुछ स्वाद लिया, हां कुछ सूँघा, हां कुछ छुवा, हां कुछ देखा, पर मन क्या करता है? उसकी बात कुछ ग्रहणमें ही नहीं आती है। और ऊधम ऐसा मचा रक्खा है कि इस प्रभुका इस मनने विगाड़ कर दिया है, और है वहां कुछ भी नहीं। यों जैसे कोई मजाकिया पुरुष किसीको दवा बता दे—देखो भाई धुँवाकी तो कोपल लाना, बादलकी छाल लाना और अंधरेके फूल लाना, इन सबको मिलाकर घोटकर पी लेना, तुम्हारा रोग मिट जायेगा। अब लावो धुँवाकी कोपल,

बादलकी छाल और अंधेरेके फूल। जैसे ये कुछ नहीं हैं ऐसे ही मनकी बात भी कहीं कुछ नहीं है। केवल ख्याल ही ख्याल है। पर यह तो इन्द्रिय से भी अधिक उद्दण्ड और हामी हो रहा है।

मनका वशीकरण— इस उद्‌दण्ड मनका वशमें करना उनके ही संभव है जो भेदविज्ञानके द्वारा अपने परमार्थ शरणभूत अंतस्तत्त्वमें पहुंचे हैं। उनके आगे मन कुछ नहीं कर सकता है। बाकी संसारके समस्त जीवों को यह मन मानों स्वच्छन्द होकर बेरोकटोक सता रहा है। सर्व प्रकारके रागद्वेष मोह जहां नहीं रहे उसी आत्मामें यह सामर्थ्य प्रकट होती है कि निज अखण्ड अद्वैत चित् प्रकाशमात्र स्वरूपमें उपयोगी हो सकता है अपने इस शाश्वत स्वभावमें स्थिर होनेका नाम है निश्चयमनोगुप्ति। ऐसी स्थितिमें भावमनसे ये रागादिक भाव निकल जाते हैं और फिर यह मन वशमें हो जाता है। वश होनेका अर्थ यह है कि फिर हम इसे उत्तम कार्यमें लगा सकते हैं। उत्तमकार्यमें किसीको लगा देनेका नाम है वश करना।

कुपथसे निवृत्तिका नाम वशीकरण— जैसे कोई पुत्र कुपूत हो गया है, उद्दण्ड हो गया है अर्थात् गंदे कुपथके कामोंमें लग गया है। अब उसे कहते हैं कि यह वश नहीं रहा। अरे वश करनेका अर्थ बांधना नहीं है कि यह रस्सीसे बंध नहीं पाता। यह वश नहीं रहा अर्थात् कुपथमें भागा भागा फिर रहा है। जब कभी ज्ञान उपदेश शिक्षा देकर किसी उपायसे उसका आचरण ठीक हो जाय तो कहते हैं कि मेरा पुत्र मेरे वश हो गया है। अरे पुत्रादिक कोई भी तेरे वश न था, न है, न होगा, किन्तु कुपथसे हटकर सुपथमें लग गया है, इसीके मायने हैं वशमें हो गया है। यों ही यह मन कुपथमें भागा-भागा फिर रहा था, अब ज्ञानबलसे इस मनसे उन रागादिक भावोंको हटा दिया अब इसका कुपथ दूर हो गया। अब यह सुपथमें आने लगा। इसका नाम है मन वशमें हो गया। वह सुपथ क्या है? वह एकरूप है। निज सहजस्वभावके अवलोकनको ही सुपथ कहते हैं। अब यह मन, यह विचार, यह ज्ञानधारा सहज स्वरूपकी ओर उन्मुख होने लगी है, ऐसी स्थितिको कहते हैं निश्चयमनोगुप्ति।

कुपथगमनके प्रारम्भमें ही सावधानीकी आवश्यकता— भैया! प्रारम्भमें ही कुपथमें जाना बहुत बड़े अहितको लिए हुए है। कुपथको मान लेना एक रिपटने वाली जगहमें चलनेके बराबर है। जैसे बरषातमें चिकनी जमीन पर जहां कि पैर रिपट जाते हैं उस पर चलना बड़ी सावधानीका

काम है। यदि थोड़ा भी पैर वहां रिपटे तो अपने को संभालना बहुत कठिन है। संभाला तो संभ ला, नहीं तो नीचे धड़ामसे गिर जाता है। ऐसे ही यह मन जब प्रारम्भमें थोड़ा कुपथमें चलता है उसही समय ज्ञान की सावधानीसे इलाज कर सको तो कर लो। यदि वहां मनको कुपथसे न रोका जा सका तो कुछ समयके बाद उस मनको कुपथमें रोकना कठिन हो जाता है। कोई भी मनुष्य आरम्भमें इतना बिगड़ा हुआ नहीं होता है। किसी भी पुरुषको कोई व्यसन लग जाय तो ऐसा नहीं है कि मानो वह २० वर्ष, २ महीने, २ दिन, २ घंटे तक तो वह बिल्कुल साफ था और इसके बाद जहां दूसरा मिनट लगा तो वह महान् वेश्यागामी बन गया, ऐसा नहीं होता है। आरम्भमें मन थोड़ा ही बिगड़ता है। बस, उस थोड़े बिगड़े मनकी जब हम परवाह नहीं रखते, सावधानी नहीं रखते तो मनका धीरे धीरे बिगड़ना बढ़ता जाता है और वह बहुत बड़ा भयंकर विडम्बनाका रूप रख लेता है। इस कारण विवेकी पुरुषोंको भी सावधान रहना चाहिए कि थोड़ा भी चलित मन हो जाय तो उसको हटा दें, शुद्ध कर लें।

मनकी विशेष शुद्धिके लिये तीन बार सामायिक— मनकी शुद्धिके लिये दिनमें तीन बार सामायिक बतायी गई है और प्रत्येक सामायिक ५॥ अथवा ६ घंटे के बादमें होती है। सुबहकी सामायिक, दोपहरकी सामायिक और शामकी सामायिक होती है। सुबहकी ५॥ बजेकी सामायिकके ६ घंटे बाद दुपहरकी, उसके ६ घंटे बाद शामकी, उसके ६ घंटे बाद फिर सुबहकी सामायिक होती है। बाकी टाइम सोनेमें आ गया। सभी सामायिकोंके बीच ६ घंटेका समय रहता है। सोने पर क्या वश है? ६ घंटेमें जान बूझकर जो दोष आ गये हैं। मनको हिलाया डुलाया है, कुपथका मुख तका है तो उसको शुद्ध करलें। इसके लिए वह सामायिकका काल आता है। जैसे नीतिमें कहते हैं कि शत्रुका बालक भी रह जाना बुरा है। शत्रुको तो मूलसे साफ करो, यह एक राजनीतिकी बात है। यहां अध्यात्मनीतिमें यह लगावो कि इस मनका थोड़ा भी बिगड़ना बुरा है, इसको तो समूल वश करें।

आवश्यकताके विषयमें लोगोंकी गलत धारणा— लोग कहते हैं कि मुझे बहुत बड़ा आवश्यक काम है आज। आज मुझे रंच भी फुरसत नहीं है। आप लोग माफ करें मुझे जरा भी अवकाश नहीं है क्योंकि आज अत्यन्त आवश्यक काम है। लोगोंके आवश्यक कामको तो देखो--किस कामको ये आवश्यक बता रहे हैं? वह काम मिलेगा इन्द्रियका या भोग का या मन को खुश बनाये रहनेके उपाय करनेका। अन्य कोई काम न

मिलेगा, किन्तु बोलेंगे गलत बात कि इतना आवश्यक काम है। अरे आवश्यक काम कहते किसे हैं? पहिले आप इसहीका निर्णय करलो। आवश्यक शब्द ही यह बता देगा कि आवश्यक काम मेरा क्या है? आवश्यक शब्दमें मूल वर्ण है वश। वशका नाम वश है। किसीके आधीन होनेका नाम वश है और न वशः इति अवशः। जो वशमें न हो उस पुरुषका नाम है अवश। जो इन्द्रियके विषयोंके आधीन न हो, जो किसी भी प्रकार परवस्तुवोंके आधीन न हो ऐसे स्वाधीन पुरुषका नाम है अवश। अवशस्य कर्म इति आवश्यकम्। जो अवश पुरुषका काम है उसका नाम है आवश्यक अर्थात् जिस परिणामसे, जिस ज्ञानसे यह आत्मा अपने आपके आधीन रहे, निज सहज ज्ञानप्रकाशके अनुभवनसे, पूर्ण प्रसन्न रहकर स्वतंत्र रहे उस परिणामके करनेका नाम है आवश्यक। अभी क्या कह रहे थे मुझे आज अत्यन्त आवश्यक काम है और काम किया अनावश्यक। ऐसे हैं वे काम जो पराधीन विषयकषाय हैं, जिनमें अनेक आपत्तियां हैं, अनेक कष्ट हैं।

वास्तविक आवश्यक— अपने आपमें यह श्रद्धा लावो कि मुझे यदि कोई आवश्यक काम है तो यह ही एक आवश्यक है कि अपने स्वरूप का अनुभवन करूँ और संसारके सारे संकट मेटूँ। किस पदार्थमें मोह ममता करके अपने को बरबाद किया जाय? यह घर न अभी काम दे रहा है न आगे काम देगा, यह तो छूट ही जायेगा। कहांके मरे कहां गये जिसका कुछ पता भी नहीं। दुनिया है ३४३ घन राजू प्रमाण। अच्छा घरका न सही तो समाजका तो हमें ख्याल करना ही चाहिए। यह समाज जो मायामय असमानजातीय पुरुषोंका समूह है यह भी न अब शरण है न आगे शरण है और पता नहीं यहांके मरे कहां गिरे? यहां कौन मदद देने आयेगा? अच्छा देशकी बात तो सोचना चाहिए। तुम्हारा देश कौन सा है? आज इस जगह उत्पन्न हुए हैं, यहां की कथा गा रहे हैं और दूसरे अन्य देशोंके लोगोंको गैर, विरोधी, न कुछ जैसा समझ रहे हैं। और कोई यहांसे मरण करके उन्हीं देशोंमें पैदा हो गया तब क्या सोचेगा? तब तो वह ही राष्ट्र अपने लिए सर्व कुछ हो जायेगा। अरे सोचो उसकी बात जिससे सदा काम पड़ता है। सदा काम पड़ेगा अपने आपके आत्मा से।

आत्माकी पवित्रतासे परोपकारकी संभवता— भैया! जो अपने आपके आत्माकी बात सोच सकता है और उस आत्मचिंतनसे अपनी स्वच्छता पवित्रता ला सकता है ऐसे पुरुषसे राष्ट्रका हित भी सहज स्वय-

मेव हो सकता है। ऐसे संतसे समाजका हित भी स्वयमेव सहज हो सकता है। ऐसे ज्ञानी गृहस्थसे, जिस घरमें वह बस रहा हो उस घरका हित सहज स्वयंमेव हो सकता है। अतः पुरुषार्थ करना चाहिए परमार्थ आवश्यक कामके लिए। इस आवश्यक कार्यमें उपयोगको बनानेका नाम ही निश्चयमनोगुप्ति है। हे शिष्य ! तू इस निश्चयमनोगुप्तिको अचलित रूपसे अर्थात् स्थिर रूपसे कर।

मनके रोधका अनुरोध— मन, वचन, काय इन तीनोंका जो निसर्ग है, प्रवर्तन है उसमें सूक्ष्म प्रवर्तन तो है मनका, उससे स्थूल वचनका, उससे स्थूल कायका है। कायका कायपना बड़ी जल्दी सामने आता है, वचनकी बात उससे कुछ सूक्ष्म है, लेकिन जीवपर संकट डालनेके लिए कायकी बात इतनी अधिक क्लेशकारी नहीं है, उससे अधिक वचनकी बात है और वचनसे भी अधिक मनकी बात है। किसी पुरुषको एक दो थप्पड़ लगा दो तो इतना बड़ा रूप नहीं रखता जितना कि कटुक गाली गलौजका शब्द कह देना कटुक रूप रखता है और मनकी बात तो यद्यपि दूसरे व्यक्तरूपसे नहीं समझ पाते हैं, फिर भी खोटे मन वालेका असर पड़ोसमें उत्तम होता ही नहीं है। किसी ने पूछा कि तुम मुझे कितना चाहते हो ? तो उसका उत्तर मिला कि यह तुम अपने ही दिलसे पूछलो। जैसी तुम अन्य जीवों पर दृष्टि रक्खोगे अन्य जीवोंका भी करीब-करीब वैसा ही उसके प्रति मन बनेगा और मनको बिगाड़ कर रखनेसे स्वयंमें निरन्तर संक्लेश बने रहते हैं। इस तरह मनके दुरुपयोग को दूर करके हे कल्याणार्थी पुरुषों ! इस मनको एक आत्मतत्त्वके अनुभवनमें ही लगावो, यह ही निश्चयमनोगुप्तिका उपाय है।

वचनगुप्ति—— अब वचनगुप्तिका वर्णन किया जा रहा है। असत्य आदिक वचनोंकी निवृत्ति होना इसका नाम है वचनगुप्ति, अथवा मौन व्रत होना इसका नाम है वचनगुप्ति। वचनगुप्तिका उत्कृष्ट रूप तो पूर्ण मौन है और अनुत्कृष्ट रूप सर्व प्रकारकी असत्य भाषाका परिहार कर देना है।

मौन शब्दका अर्थ— मौन शब्दका अर्थ रूढ़िमें चुप रहना है, किन्तु मौनका अर्थ चुप रहना नहीं है। मुनिके परिणामको मौन कहते हैं। वचनोंके बंद कर देनेका नाम मौन नहीं है किन्तु मुनिके परिणामोंको प्रकट कर देनेमें प्रमुख बाह्यरूप मौन कहो, चुप रहना कहो, वचनालापका बंद कर देना है। इस कारण मौन शब्दकी रूढ़ि वचनव्यवहार बंद करने में हो गई है। जैसे जब लोगोंको यह विदित होता है कि फलाने साहबका

मौन है, आज तो यह चार बजे तक न बोलेंगे अथवा कोई साधुजन रोज मौन रहते हैं, आजन्म मौन रहते हैं तो लोगोंको विश्वास हो जाता है कि इनका परिणाम बड़ा उज्ज्वल है। दूसरी बात यह है कि जैसे मुनिको शुद्ध आशयमें रुचि है वहां ही जिसकी वृत्ति है ऐसा पुरुष उस शुद्ध वृत्तिके परिणाम में मौन रहा करता है, चुप रहा करता है। इस कारण मौन शब्दकी रूढ़ि वचनव्यवहार बंद करने में आ गयी। सीधा अर्थ तो यह है कि मुनिके परिणामको मौन कहते हैं। जो कुछ भी मुनि करे वह सब भी मौन है, जो कुछ भी मुनि विचारे वह सब भी मौन है।

किससे बोला जाय— इस ज्ञानी पुरुषके वचनव्यवहारकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है ? बताते हैं। अच्छा आपही बतावो कि किससे वचन बोलें, व्यवहार करने योग्य दो जातिके पदार्थ हैं— जीव और पुद्गल। उनमें पुद्गल तो समझते नहीं हैं, अचेतन हैं। उनसे बोल कर क्या करना ? वहांसे न कुछ उत्तर मिलता है, न उनमें कोई अभिप्राय है, न वे प्रसन्न होते हैं, न वे रुष्ट होते हैं। पुद्गल तो, ये स्कंध तो जैसे हैं, पड़े हुए हैं इनसे वचन बोलकर क्या करना, अचेतनोंसे कौन बोलता है वचन ? अज्ञानीजन भले ही इन पुद्गलों से वचन बोल दें अथवा पुद्गलसे कुछ बोल दें तो बच्चे राजी हों तो हो जायें। किसी बच्चेके सिरमें भींत लग जाय, रोने लगे तो भींतमें दो चार थप्पड़ जमा दो तो बच्चा राजी हो जाता है। तो अज्ञानीजन पुद्गलोंसे बोलकर राजी हों तो हो जायें, पर बोलनेका वहां कुछ काम नहीं है। भींतसे बोलें ? घड़ीसे बोलें ? चौकीसे बोलें ? किससे बोले ? अब रहा दूसरी जातिका चेतन पदार्थ। वह अमूर्त द्रव्य है, उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं। वह भावात्मक है, उसमें शब्द भी नहीं आते। चेतनोंसे भी कौन बोलता है अथवा बोला भी नहीं जा सकता।

शुद्ध दृष्टिसे देखो तो यह आत्मा शब्द सुनता भी नहीं है। जैसे कि कार्यपरमात्मा शब्द सुनते नहीं हैं। केवली भगवान् जानते तो सब हैं, पर वे सुनते नहीं हैं, देखते नहीं हैं, सूँघते नहीं हैं, छूते नहीं हैं, स्वाद लेते नहीं हैं। अब अपनी कल्पनामें लावो कि बिना सुने, बिना देखे, बिना छुवे, बिना स्वादे, वह ज्ञान किस प्रकारका होता होगा ? न भगवान सुनते हैं और न यह आत्मतत्त्व सुनता है। भगवानमें और आत्मतत्त्वमें अन्तर नहीं है। कार्यसमयसारमें और कारणसमयसारमें स्वरूपका अन्तर नहीं है। जैसे निर्मल जल और कीचड़में पड़े हुए जलका स्वभाव इन दोनोंका एक ही स्वरूप है और एक ही वर्णन मिलेगा। जरा गंदे जल और निर्मल

जलका सामना करके आपसे हम पूछें कि आप निर्मल जलका वर्णन करो और इस जलके स्वभावका वर्णन करो। तो दोनोंका वर्णन स्वच्छ है, द्रव है और जो भी निर्मल जलमें विशेषताएँ हैं उतनी ही बात इस जलके स्वभावमें लगानी पड़ेंगी। यों ही कारणसमयसार और कार्यसमयसारके वर्णनमें अन्तर नहीं है।

आत्मतत्त्वकी अतीन्द्रियता— यह अमूर्तद्रव्य, यह अंतस्तत्त्व इन्द्रियज्ञानके अगोचर है। यह खुद इन्द्रियों द्वारा जानता भी नहीं है। यह अंतस्तत्त्व इसकी विषयप्रवृत्ति ही नहीं है। जो जानता है यों सुनता है इन्द्रियों द्वारा वह अंतस्तत्त्व नहीं है। वह इस आत्मासे अत्यन्त भिन्न नहीं है, किन्तु अंतस्तत्त्व नहीं है। इस अमूर्तद्रव्यके इन्द्रियज्ञान भी नहीं है और इन्द्रिय ज्ञानका यह विषयभूत भी नहीं है। शुद्धनयकी दृष्टिसे देखियेगा तो यह विदित होगा कि अन्तस्तत्त्वके इन्द्रिय भी नहीं है और इन्द्रियज्ञान भी नहीं है और कुछ अशुद्धनयकी दृष्टिसे देखिए तो इस जीवके इन्द्रियज्ञान हो रहा है लेकिन अमूर्त बराबर है। इन्द्रियज्ञान करनेसे कहीं रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं आ जाते हैं। यों चैतन्यद्रव्य अमूर्त है, उससे वचनोंकी प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है।

उपासनाका प्रयोजन स्वयंका उपासकत्व— भैया! २०-४० वर्ष दसलाक्षणीमें चिल्लाते हो गये, एक दिन भी भगवानने सुनी नहीं और न वे कुछ कहने सुनने आये। कैसे कहने सुनने आयें? वे सुनते ही नहीं हैं। पूजन तो अपने आपके प्रसादके लिए है प्रभुको सुनानेके लिए नहीं है, न प्रभुको राजी करनेके लिए है। हम अपने स्वभावको परखें और उस शुद्ध स्वभावकी दृष्टि करके प्रसन्नता पायें, निर्मलता पायें इसके लिए प्रभुभक्ति है। किससे बोलें? चैतन्यद्रव्य अमूर्त है और जो मूर्त हैं उसमें चैतन्य नहीं है। तो किससे बोला जाय? ऐसा जानकर साधु संतोंके वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है। यों सहज वचनव्यवहार को जानना, इसका नाम है निश्चयवचनगुप्ति। धन्य हैं वे योगी जो शुभ अथवा अशुभ मन और वचनकी प्रवृत्तिको छोड़कर आत्मतत्त्वके निरखने में निरत रहा करते हैं। ऐसे ये योगिराज समस्त पापकर्मोंको जलानेमें अग्निकी तरह तेजस्वी-प्रगतिशील रहते हैं।

बाहर ठौर ठिकानेका अभाव— जैसे कोई पुरुष अपने घरको छोड़कर दूसरेके गांवमें घुसता फिरे और सब जगहसे ललकारा जाय तो अंतमें विवश होकर अपने घरमें आता है और विश्रामकी सांस लेता है। कहीं ठौर ठिकाना नहीं मिलता। यों ही यह जीव बाहरमें यत्र तत्र इन्द्रिय

विषयोंमें डोलता है। यह ही पर घर है, किन्तु हर जगहसे ललकारा गया। चारुदत्त सेठ कई करोड़ दीनारोंका स्वामी था। उससे वसंतमाला, तब तक ही प्रीति वचनालाप करती रही जब तक उससे धन प्राप्त होता रहा। जब कुछ न बचा तो क्या दुर्दशा हुई कि जब वह घरसे जाय ही नहीं तो संडासमें पटकवा दिया। जब सुअरोंने चाटा, भंगियोंको मालूम पड़ा तब वहांसे निकाला गया। जीवकी प्रकृति देखो कब कितनी बुरी हो जाती है? जब उसे विवेक आया तब उसका जीवनस्तर इतना पवित्र बना कि उसे क्या कहा जाय?

निवृत्तिभावका यत्न— संसारमें जो कुछ भी न्यौछावर है वह भावों का न्यौछावर है, वस्तुका नहीं। भले ही कुछ स्वप्नमें नगरीमें पदार्थोंका न्यौछावर बन गया, पर उसमें भी मूलस्रोत निहारो तो वह सब भावोंका ही न्यौछावर है। मनुष्यकी आवश्यकता और मनुष्यभव—यह सर्वपदार्थोंका मूल्य है। इसलिए अपने भावोंकी स्वच्छता बनाये रहनेका निरन्तर यत्न करना चाहिए। कभी कोई कषायभाव जगे तो उस कालमें भी इतना विवेक रखें कि यह कषाय आयी है तो यह नाशके लिए आयी है। अभी जाने वाली है किन्तु इसका ग्रहण करके, अपना अपमान करके हम बहुत काल तक बरबाद होते रहेंगे। इसलिए जैसे किसी दुष्टसे पाला पड़ जाय तो जो भी सही राज होता है, उपाय होता है, उस उपायसे उससे दूर हो जाता है। ऐसे ही इन विषय-कषायोंके परिणामसे पाला पड़ गया है तो जिस सुन्दर उपायसे ये विषयकषायोंके परिणाम हट जायें उसे करे। ये सीधे नहीं हटते हैं तो थोड़े रूपसे उन्हें ऊपरसे रुचि करके हटा डालें।

निर्नयका निर्णय— ज्ञानीपुरुष अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी निष्ठामें रहते हैं। यह अन्तस्तत्त्व शुद्धनय और अशुद्धनय दोनों नयोंसे परे है। प्राक् पदवीमें यद्यपि इन जीवोंको व्यवहारका हस्तावलम्बन है, किन्तु अन्तस्तत्त्वमें कदम रखने पर यह व्यवहारनयमात्र ज्ञेय रहता है और निश्चयनयका आश्रय होता है। पश्चात् व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों का आश्रय टूट जाता है और दोनों नयोंसे, दोनों पक्षोंसे रहित शुद्ध-चिन्मात्रका संचेतन रह जाता है। जीवके स्वरूपके सम्बन्धमें ऐसा पूछा जाय कि बतावो क्या जीवका स्वरूप राग है? तो यह समझमें झट आयेगा कि जीवका स्वरूप राग तो नहीं है और जब पूछा जाय कि जीव का स्वरूप क्या रागरहित है? तो उत्तर यही है कि आत्मतत्त्व रागरहित भी नहीं है, रागसहित भी नहीं है, वह तो ज्ञानमात्र है।

वस्तुस्वरूपकी परानपेक्षता— वस्तुस्वरूपके दिग्दर्शनके लिये एक

मोटा दृष्टान्त ले लो। यह बताओ अच्छा कि इस चौकीका स्वरूप क्या पुस्तक सहित रहना है, तो आप कहेंगे कि पुस्तक सहित रहना चौकीका स्वरूप नहीं है। चौकीमें मोटाई है, लम्बाई है, रंग है, वह स्वरूप है। और जब पूछा जाय कि इस चौकीका स्वरूप क्या पुस्तकरहित है ? अजी यह भी स्वरूप नहीं है। लम्बाई है, चौड़ाई है, मोटाई है, रूपरंग है, यह भी स्वरूप नहीं है। यों ही आत्मामें देखो क्या विषयोंका स्वरूप रागसहित होता है ? नहीं जी। तो क्या रागरहित होता है ? नहीं जी। मेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र है, ऐसा यह शुद्धनय और अशुद्धनयसे परे है।

चिन्मात्र चिन्तामणि— यह चिन्मात्र आत्मतत्त्व जो चिंतामणिकी तरह है उसकी उपासना इन ज्ञानियोंकी रहती है। लोग कहते हैं कि चिंतामणि रत्न ऐसा होता है कि जिसके निकट रहते हुए जो आप विचारें वही मिल जाता है। अब दिमाग लगावो कि ऐसा चिंतामणि रत्न कहां होगा ? वह काला है कि लाल है कि सफेद है कि वह कोई पत्थर है जो हाथमें आजाय और जो भी चित्तमें विचार करो वह चीज मिल जाय ? ऐसी कोई चिंतामणि जैसी चीज संगतिमें तो नहीं बैठती। हां यों संगति लगा लो कि बड़ा कीमती रत्न है, बेच कर हलुवा पूड़ी खाना है तो उसको बेच लिया, बढ़िया सामग्री आ गयी और उससे हलुवा पूड़ी बनाकर खा लिया, ऐसा तो हो सकता है पर जो विचारो सो बन जाय ऐसा कभी नहीं होता। विचारसे विवाह हो जाय, पुत्र हो जाय, क्या यों हो जायेगा ? चिंतामणिसे प्रार्थना करने से विचार करने से कुछ भी बन जाय ऐसा नहीं होता है। यों खर्च करनेसे लाभ हो तो यों फिर धन वैभव भी चिंतामणि बन गये। यह मकान महल है, अच्छा किराया दुकानका आता हो तो वह भी चिंतामणि है, उन्हींकी वजहसे विवाह हो जाय और लड़के बच्चे पढ़ जायें, जो जो विचारें सारे काम कर लें, पर वहां भी अन्तर पड़ता है, विघ्न पड़ता है, बहुत कालके बाद सिद्धि होती है। वह तो नहीं होता चिंतामणि। ऐसा कोई चिंतामणि नहीं होता, कोई पत्थर ऐसा नहीं है कि उसे हाथमें ले लो तो जो विचारो सो सिद्ध हो जाय। पर हां यह चैतन्यस्वरूप ऐसा चिंतामणि है कि जो विचारो वही सिद्ध हो जाय।

चिन्मात्र चिन्तामणिसे इच्छा पूर्तिकी विधि— आत्माके उस सहज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि ऐसा रत्न है कि आपकी प्रत्येक कामनाएँ पूरी होंगी। आप अगर करोड़पति बनना चाहेंगे तो वह भी सिद्ध हो जायेगा। आप उस रत्नको पावें तो सर्वसिद्धि हो जायेगी। कोई लोग सोचते हैं कि यह भी बहकानेकी बात होगी। अरे आत्माका अन्तरंगस्वरूप पहि-

चलो फिर जो चाहोगे सो सामने खड़ा हो जायेगा। अरे आवो तो निकट तुम्हारी कोई भी इच्छा यदि खाली रह जाय तो फिर प्रश्न करना। अरे भाई तो युक्ति से तो समझावो। लो युक्तिसे समझलो। तुम्हें आम खानेसे काम है या गुठली गिनने से काम है? अगर गुठली गिनने से काम है तो आप जावो दूसरी जगह और आम खाने से काम है तो यहां रहो। तुम्हें आनन्द पाने से काम है या इस महल दुकानसे काम है? अगर महल दुकानसे काम है तो जावो और अगर आनन्द पाने से काम है तो बैठो। यह सहज चैतन्यस्वरूप इस प्रकारका स्वभाव वाला है कि उस मेरे स्वरूप में जब उपयोगका प्रवेश होता है तब यहां कोई इच्छा ही नहीं रहती। और देखो इच्छाके न रहनेका नाम है इच्छाकी पूर्ति।

इच्छाके अभावका नाम इच्छाकी पूर्ति— जैसे बोरामें गेहूं भरते हैं तो वह बोरा खूब भर जाय इसको आप कहेंगे कि बोरा भर गया, ऐसे ही जीवमें इच्छा आती है और इच्छा खूब भर दी जाय तो इसको इच्छाकी पूर्ति कहते हैं क्या? आप भोजन करते हैं, पेट भर खा लेते हैं तो आप कहते हैं कि हमारी इच्छाकी पूर्ति हो गयी, क्योंकि अब खानेकी इच्छा नहीं रही। इच्छाके न रहनेका नाम ही इच्छाकी पूर्ति है। यह चैतन्यस्वभाव चिंतामणि ऐसा विलक्षण रत्न है कि इसके पा लेने पर समस्त इच्छावोंकी पूर्ति हो जाती है। तो यों चिंतामणि कहलाया चित्स्वभावका अवलोकन।

भोगके अभावमें सहज योग— भैया! इतनी सुगम सुविधा सहज प्राप्त होने पर भी कोई न माने और चित्त समर्थन न करे कि हां वास्तवमें यही सर्वस्व रत्न है और इसके पाने से ही हमें समस्त सुख होंगे, न कोई श्रद्धान करे और अपने स्वरूपसे चिग-चिगकर बाहरकी ओर दौड़ा करे तो उसके लिए क्या किया जाय? किसी भिखारीसे कोई सेठ कहे कि ऐ भिखारी! ये ४-५ दिनकी बासी रोटी तू झोलेमें भरे रक्खे है, इन्हें फेंक दे, मैं तुझे चार छः दिनको खाने के लिए ताजी पूड़ियां दूंगा। उसे विश्वास नहीं होता है। और वह सेठ इस बात पर ही अड़ जाय कि तू इन रोटियोंको फेंक दे तब मैं पूड़ियां दूंगा। तो उस सेठमें और भिखारी में मेल नहीं मिलता है। ऐसे ही यह इन्द्रियविषयोंका भिखारी विषयभोगों को अपने उपयोगके झोलेमें भरे रक्खे है, ये कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्र जी सूरि आदि सेठ लोग इससे कह रहे हैं कि तू इन बासी रोटियोंको फेंक दे, ये सब भव-भवके भोगे हुए जूठे हैं, तुझे हम बढ़िया आनन्द देंगे, लेकिन वास्तविकता इस बात पर दृढ़ लगाये हैं कि तू इन्हें फेंक तो दे

फिर आनन्द ले। मगर यों भी मामला सेटिल हो जाय कि तुम हमें आनन्द तो दो हम फेंक देंगे तो भी बात बनेगी, किन्तु ऐसी कुछ बात होती ही नहीं है। ऐसे उस चिन्मात्र चिंतामणि रत्नके उपासक योगी पुरुषोंके समस्त वचनव्यवहार रुक जाते हैं।

समृद्धिलाभका उपाय— जो योगिराज निश्चयमनोगुप्तिका पालन करते हैं वे निकट भव्य भविष्यमें अनन्तचतुष्टयात्मक परिणमनके साथ जीवन्मुक्तिको प्राप्त होते हैं। योगीजन चार घातिया कर्मोंका विनाश करके प्रथम तो शरीरसहित स्थितिमें ही परमात्मा हो जाते हैं और फिर समय पाकर चार अघातिया कर्म भी दूर होते हैं। उस समय वे सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं। आत्माका हित अनाकुलतामें है और सर्वथा अनाकुलता मोक्ष अवस्थामें है। मोक्ष अवस्थाके होनेका कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र है, और इस रत्नत्रयकी साधनाका कारण अभेद-स्वरूप आत्मतत्त्वकी दृष्टि है। अभेद आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें सहायक भेद-विज्ञान है और भेदविज्ञानमें सहायक वस्तुके स्वरूपकी परख है। इस कारण परमहित चाहने वाले भव्यजनोंके वस्तुस्वरूपके परिज्ञानमें प्रयत्न-शील होना चाहिए। उसही के प्रतापसे क्रमशः इस ज्ञानस्वरूपके उपयोगकी स्थिरता बढ़कर वह अवस्था मिलती है जिसमें सदाके लिए यह आत्मा द्रव्यकर्म भावकर्म, नोकर्मरहित होकर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्यकी नाईं विशुद्ध हो जाता है।

साधना, प्रयोजन और उपाय— विशुद्ध होने पर इस आत्मतत्त्वके अनन्तगुणोंका परम विकास होना है। उन सब गुणोंके विकासके प्रयोजन की बात इतनी ही है कि वे अनन्त आनन्दमय होते हैं। किसी से कहा जाय कि तुम्हें अनन्तज्ञान हो जायेगा पर आनन्द न आयेगा तो वह ऐसे अनन्तज्ञानको भी पसंद न करेगा। कितनी ही और बातें हो जायें, एक अनाकुलताकी बात न हो तो वे सारी ऋद्धियां, समृद्धियां इस आत्माको उपादेय नहीं हैं। आत्माका उपादेय तत्त्व सहज आनन्दमय अवस्था है। वह अवस्था कैसे प्रकट होती है? उसके उपायको जानकर अन्तमें प्राथमिक उपाय यह बनेगा कि वस्तुस्वरूपका निरन्तर परिज्ञान यथार्थ बनाये रहें। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने-अपने स्वरूपको लिए हुए है, किसी पदार्थ का अन्य पदार्थ कुछ नहीं है ऐसा जो उनका मौलिक स्वरूप है वह स्वरूप दृष्टिमें रहे तो निश्चयमनोगुप्ति और निश्चयवचनगुप्तिकी सिद्धि होती है। यहां तक निश्चयमनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है। अब निश्चयशरीरगुप्तिका स्वरूप कह रहे हैं।

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा ॥७०॥

निश्चयकायगुप्ति— कायकी क्रियावोंकी निवृत्ति होना, कायका व्युत्सर्ग होना कायगुप्ति है अथवा हिंसा आदिक सर्वपापोंकी निवृत्ति होना सो कायगुप्ति है। जैसे जब कभी आश्चर्य वाली बात जाननेमें आती है तो शरीर कैसा स्तब्ध हो जाता है, कैसा दृढ़ स्थिर हो जाता है, इसमें किसी प्रकारका भाव कारण पड़ता है। यों ही कायगुप्तिकी सिद्धिमें आत्मामें शुद्ध भावोंका होना पहिला प्रमुख कारण है। बड़े-बड़े उपसर्गों में कायगुप्ति निभानेका यत्न होता है, तब कठिनतासे कायगुप्ति सिद्ध होती है। जैसे एक साधुने स्वयं बताया था कि मुझे कायगुप्ति यों नहीं हुई है कि मृतकासनसे ध्यान करते हुएकी स्थितिमें किसी मंत्रसाधकने हमारी इस खोपड़ीको मरी हुई खोपड़ी समझकर इस पर खिचड़ी पकायी थी। बहुत देर तक मैं सहता रहा, पर बादमें मेरा शरीर हिल गया। तो ऐसा कठिन जो कायगोपन है वह कायगोपन आत्मामें ज्ञानस्वभावकी दृष्टिकी स्थिरता बिना होना कठिन है। जान बूझकर शरीरको कोई न हिलाये डुलाये, स्थिर रखे यह अस्थायी काम है और ऐसा करने पर भी कायगुप्तिका जो प्रयोजन है, निर्विकल्प तत्त्वकी साधना है उससे तो वह दूर है। किन्तु जब अंतरंगमें भाव विशुद्धि हो, इस निष्क्रिय चित्स्वभाव की उपासना हो वहां जो कायगुप्ति बनती है वह मूलमें हितका प्रसार करती हुई दृढ़तासे बनती है।

कायगुप्तिका विवरण— सभी लोगोंके प्रायः कायसम्बन्धी बहुत सी क्रियाएँ होती हैं। उठना बैठना हिलना संकेत करना अनेक कार्य होते हैं। खोटे प्रणिधान वाली और भले प्रणिधान वाली क्रियाएँ होती हैं। उन सबकी निवृत्ति होना इस ही का नाम है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग मायने त्यागके हैं। शरीरका त्याग क्या है कि क्रियावोंकी निवृत्ति होना और शरीरका लक्ष्य भी न रखना, मानो शरीर है ही नहीं। शरीरका कुछ ख्याल भी न रखना, केवल एक ज्ञानस्वरूपमें अपना उपयोग रखे इसे परमार्थसे कायोत्सर्ग कहते हैं। कायोत्सर्ग जहां है वहां ही कायगुप्ति है। अथवा ५ प्रकारके स्थावर और त्रस, इन ६ कायके जीवोंकी हिंसाका सर्वथा त्याग होना सो कायगुप्ति है। यह आत्मा इस कायगुप्तिसे सर्वथा भिन्न है। व्यवहारदृष्टिमें यह आत्मा बंधनको प्राप्त है, परस्वरूप दृष्टिसे पूर्ण बंधनरहित है। किन्तु देखो हाय कितनी प्रकारके जीव यहां नजर आ रहे हैं? कैसी-कैसी कुयोनियां, कैसे-कैसे खोटे कुल नजर आ रहे हैं? ये

सब कायकी ओर दृष्टि रखनेके फल हैं। अपने आत्माकी भावनासे चिगकर शरीरमें आत्मदृष्टि करने के फल हैं। जो महाभाग इस शरीरको अपने से भिन्न पहिचानकर इसके ख्याल और वासनाका परित्याग करता है, अपने आपमें स्थिर होता है, आत्मस्वभावमें ही रुचि बढ़ाता है उस पुरुषके कायगुप्ति होती है। यह आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, इसकी ओर प्रवृत्ति न करे, कायकी ओर दृष्टि दे, प्रवृत्ति करे तो उसका फल यह है कि संसारके इन भवोंमें ही यह प्राणी भ्रमण करता रहता है।

आत्मा और कायमें अन्तर— भैया! कितना अन्तर है इस आत्मामें और कायमें? आत्मा तो जाननहार वस्तु है और यह काय जड़ है। आत्मा तो भावात्मक अमूर्त पदार्थ है और यह शरीरग्रहण विसर्गात्मक मूर्त पदार्थ है। आत्मा तो ज्ञान ज्योतिर्मय होने से पवित्र है, सारे विश्वका ज्ञाता है, ज्ञानानन्दस्वरूप है और यह काय हाड़ मांस रुधिर आदि अपवित्र वस्तुवोंसे निर्मित है। यह आत्मतत्त्व आनन्दमय है, आनन्दका कारण है और यह शरीर स्वयं तो सुख दुःखका अनुभव कर ही नहीं सकता क्योंकि यह अचेतन है, लेकिन यह दूसरोंके लिए दुःखका ही कारण होता है। किसी बातमें यह सुख भी मान ले तो यह उसकी कल्पनाकी बात है, आनन्द है ऐसी बात नहीं है। इस शरीरके कारण भूख का कष्ट, प्यासका कष्ट, ठंडी गर्मीका कष्ट तथा और और भी ऐसे व्यर्थ के कष्ट हैं जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है और बना डाला है। जैसे अपमान का दुःख।

अपमानके क्लेशमें शरीरकी कारणता— शरीर न हो तो यह अमूर्त आत्मा किस बातका अपमान माने? ये व्यवहारीजन इस मुझ अमूर्त आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लेकर गाली गलौज नहीं देते, किन्तु इस मूर्तिक शरीरको ही ध्यानमें रखकर यह ही फलाने हैं ऐसा ध्यान देकर गालियां देते हैं, अपमान करते हैं। तब अपमान भी शरीरके कारण ही तो हुआ और भी अनेक मानसिक दुःख होते हैं, जैसे कुटुम्बकी चिंता, वैभव की चिंता ये सब विडम्बनाएँ भी इस शरीरके सम्बन्धके कारण होती हैं। शरीररहित अमूर्त केवल ज्ञानमात्र इस आत्माको क्या विडम्बना है? कहां अपमान है? जितने उपद्रव हैं, विडम्बनाएँ हैं वे इस शरीरके कारण हैं किन्तु ये मोहीजन दुःखके वास्तविक कारणोंसे इतना प्रेम करते हैं कि उसे ही अपना सर्वस्व मान लेते हैं।

आत्मस्वभावावलोकनबल— साधु संतजन किस बात पर शरीरसे उपेक्षित रहते हैं? वह है बात एक आत्मस्वभावके दर्शनकी। जिससे इस

शरीरसे परम उपेक्षा हो जाती है। समाधिमरणमें समाधि धारण करने वाले तीन प्रकारके पुरुष होते हैं। एक तो वे जो इस शरीरकी दूसरोंसे सेवा नहीं कराते। उठना बैठना कुछ भी करना वे स्वयं ही करते हैं। एक तो ऐसे साधक होते हैं। एक ऐसे साधक होते हैं कि दूसरोंसे योग्य-धर्मानुकूल वैयावृत्ति भी करा लेते हैं और एक ऐसे साधक होते हैं कि न शरीरकी खुद सेवा करते हैं और न किसी दूसरे से करवाते हैं। एक मोटे लक्कड़की भांति पड़े रहते हैं। इतनी उत्कृष्ट साधना किसके बलपर होती है? वह बल है आत्मतत्त्वके अनुभवका बल। इस शरीरसे कुछ प्रयोजन ही नहीं है। ऐसी स्थिति साधुवोंके योग्य होती है और साधुवोंके उपासक गृहस्थोंकी भी ऐसी चाह रहा करती है। ऐसे अहितमय शरीरसे परम उपेक्षा धारण करके स्थिर रहे, इसे कायगुप्ति कहते हैं।

योगीश्वरोंकी अन्तर्वृत्ति— परम सयमक धारी योगीश्वर अपने ही वास्तविक शरीरको अपने वास्तविक शरीरके साथ जोड़ते हैं अर्थात् ज्ञानमय शरीरको ज्ञानमें ही जोड़ते हैं, उनके निश्चयकायगुप्ति होती है। यद्यपि ज्ञानको शरीरकी उपमा देना कोई भली बात नहीं है लेकिन शरीर का परिचय रखने वाले जीवोंका प्रतिबोधन करने के लिए आत्माके स्वरूपको शरीरकी उपमा दी जाया करती है। शरीरका वाचक जो [बॉडी] शब्द है वह शब्द बहुत व्यापक है, उसका प्रयोजन केवल शरीरसे नहीं है किन्तु जिस स्वरूपसे वस्तुका निर्माण होता है उस स्वरूपका नाम बॉडी है। ऐसी ही भावभासना रखकर यदि यह कहा जाय कि ज्ञान ही जिसका शरीर है तो उस शरीरका अर्थ स्वरूप लेना अथवा एक शब्द आता है कलेवर। वह शब्द शरीर और कायसे भी व्यापक शब्द है। चाहे यों कहो कि बॉडीका यदि कोई अन्वयार्थकपर्याय शब्द हो सकता है तो वह शब्द है कलेवर। जैसे लोग कहते हैं कि इसका कलेवर क्या है? इस मामलेकी जान क्या है? यों ही ज्ञान भीएक शरीर है परमार्थतः। उसमें ही अपने ज्ञानको जोड़ो, ज्ञानमात्र ही अपना कायका उत्सर्ग कहा जाता है।

निश्चय कायगुप्ति— कायगुप्त अन्तरात्माकी अपरिस्पन्द मूर्ति हो जाती है। वह योगरहित, हलन चलन रहित हो जाता है। यहां उत्कृष्ट अयोगकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु यहां वहां हिलना डुलना रूप जो स्थूल योग है इन सब परिस्पंदों से रहित उसकी मूर्ति है ऐसी स्थितिका नाम है निश्चयकायगुप्ति। कायोत्सर्ग कहो अथवा कायगुप्ति कहो दोनों का भाव प्रायः एक है। जो पुरुष शरीरकी समस्त क्रियावोंका परिहार कर देता है और शरीरकी क्रियावोंके कारणभूत अथवा भवभ्रमणके कारणभूत

इन वैभवोंका भी परिहार कर देता है उस पुरुषके निश्चयकायगुप्ति होती है। उसकी स्थिति अपने स्वरूपमें स्थिर रहनेकी हो जाती है। जो अन्तरात्मा अपने आपमें उत्पन्न होने वाले रागादिक भावोंसे पृथक् अथवा रागादिक भावोंसे नीचे तहमें अन्तरमें अपने आपका अनुभव करते हैं, रागादिक भावोंको नहीं छूते हैं अपने उपयोगसे ऐसे महात्माओंके कायका उत्सर्ग कहा जाता है।

कायकी परम उपेक्षारूप गुप्ति— भैया कायके त्यागका नाम कायोत्सर्ग नहीं, काय तो लगा है, इसे कहां छोड़ा जाय ? यदि कोई आवेशमें आकर इस शरीरका त्याग करदे अर्थात् फांसी लगाले, मर जाय या श्वास रोक ले, यों सोचकर कि इन समस्त पापोंकी जड़ यह शरीर है इसलिए शरीरको हटावो, तो उसकी स्थिति तो और भयंकर हो जायेगी, उसका असमयमें मरण हुआ संक्लेश सहित मरण हुआ ,अर्थात् अपने संयमपर अधिकार न पाकर अविवेक दशामें मरण हुआ तो वह आगे किसी कुयोनि में उत्पन्न होगा। वह क्या लाभ वहां उठा लेगा ? इसलिए कायका परिहार नहीं करना है। किन्तु इस कायसे परम उपेक्षा ग्रहण करना है। यह काय ऐसी पृथक् जँचने लगे जैसी कि बाह्य वस्तुवें जचती हैं।

कायगुप्तिका प्रयोजन निश्चयचारित्र— सुकुमार मुनीश्वरके शरीर को स्याल नोच-नोचकर खाते थे पर वे जरा भी विचलित नहीं हुए। क्या वे उन स्यालोंको भगा नहीं सकते थे ? जरासा खांस देने पर भाग जाया करते हैं, लेकिन उन्होंने अपने आत्माके उत्तम ध्यानसे च्युत होना उत्तम नहीं समझा। यह काय जाय तो जाय इससे इस आत्माका कुछ भी बिगाड़ नहीं है, किन्तु यह आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर किन्हीं बाह्य विकल्पोंमें उलझ जाय तो अनेक जन्मोंमें भटकना पड़ेगा, यह कितना बड़ा बिगाड़ है। उन मुनीश्वरने इस कायसे अपनेको भिन्न जाना और अपने आपकी रक्षा की। सुकौशल मुनिराजका चारित्र देखो, गजकुमार मुनिका चारित्र देखो। सबको विदित ही है कि उनके सिरपर उनके ही स्वसुरने अंगीठी जलायी थी क्योंकि विवाह होनेके दो-एक दिन बाद ही वे साधु हो गये, किन्तु उनके लिए तो जैसे बाहर अंगीठी जल रही है वैसे ही यह सर पर अंगीठी जल रही है। शरीरको उन्होंने अपनाया नहीं, ऐसी परम उपेक्षा धारण करने वाले साधु संतोंके निश्चयकायगुप्ति होती है। मन, वचन, कायमें सबसे आसान और परमार्थमें सुगमतया कर ली जाने वाली गुप्ति कायगुप्ति है। लेकिन जब तक भावोंकी पूर्ण निर्मलता नहीं बनती तब तक कायगुप्तिका पूर्णरूप आ नहीं सकता है। इससे काय क्रियावोंके

कारणभूत क्रियाओंका भी त्याग करें। जो व्यग्रतारहित आत्मस्वरूपमें स्थित होता है उसके ही निश्चयकायगुप्ति कही गई है।

गुप्तिसाधनामें मूलभावना— जितने भी अवगुण हैं उनके विजय का उपाय उन अवगुणोंके विपरीत गुणोंपर दृष्टि करना है। जैसे इन्द्रिय विजयमें जड़ द्रव्येन्द्रियका विजय चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे होता है। मैं चैतन्यस्वरूप हूं, ये द्रव्येन्द्रिय अचेतन हैं। खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियका विजय अखण्डज्ञानस्वरूप निजकी प्रवृत्तिसे होता है और संगरूप विषयों-का विजय असंग आकिञ्चन निज अंतस्तत्त्वके अवलोकनसे होता है, यों कायगुप्तिका विजय यह ज्ञानी संत इस भावनामें कर रहा है कि मेरा तो अपरिस्पंद स्वरूप है, योगरहित स्वरूप है, निष्क्रिय धर्मद्रव्यकी तरह जहां के तहां स्पंदरहित होकर अवस्थित रहना ही मेरा स्वरूप है। जैसे मेरे स्वरूपमें ज्ञान दर्शन आनन्द आदि गुण हैं तैसे मैं परिस्पंदरहित निष्क्रिय ज्ञानमात्र हूं। ऐसे इस योगरहित अंतस्तत्त्वके योग कहांसे होगा? हलन चलन ही नहीं होता। यों भावना रखने वाले साधुके कायगुप्ति होती है और कायगुप्ति ही क्या तीनों गुप्तियां होती हैं।

योगरहित व योगसाधनरहित आत्मतत्त्वकी भावना— ये समस्त योग मूलमें तीन प्रकारके हैं—मनोयोग, वचनयोग, काययोग और इसके उत्तरभेद १५ प्रकारके हैं, चार मनोयोग हैं, सत्य मनोयोग, असत्यमनोयोग उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग। वचनयोग हैं—सत्यवचनयोग, असत्य वचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभय वचनयोग और औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारक मिश्रकाययोग और कार्माणकाययोग—ये ७ प्रकारके काययोग हैं। ये योग होते क्यों हैं? उन योगोंकी उत्पत्ति होनेमें कौनसा कर्मोदय कारण है? इस पर विचार करें तो यद्यपि सामान्यतया प्रायः सभी कर्मोदय सहायक होते हैं, फिर भी सामान्यतया योगके होने का कारण नामकर्मका उदय है। मन और काय ये दोनों शरीरके अंग हैं। मनसे प्रयोजन द्रव्यकर्मका है और वचन सुस्वर अथवा दुस्वर नामकर्मके उदयसे होते हैं। यों शरीर नामकर्मके उदयसे काययोग हुआ, मनोयोग हुआ और स्वर नामकर्मके उदयसे यह वचनयोग चलता है, इसके साथ-साथ विहायोगगति है, नाना प्रक्रियाएँ हैं, इनके उदयका निमित्त पाकर ये योग हो जाया करते हैं। योग होना मेरा स्वभाव नहीं है, मैं अयोग हूं ऐसे अपने स्वभावकी भावनाके बलसे उनके गुप्तिमें बहुत दृढ़ता आती है।

अष्टप्रवचन मातृकाका प्रसाधन— यहां प्रकरणमें तीन गुप्ति हैं,

इससे पहिले ५ समितियोंका वर्णन चला था। ५ समिति, ३ गुप्ति मिलकर अष्टप्रवचन मातृका कहलाती हैं। जैसे जीवकी रक्षामें पुत्रादिककी रक्षामें माताका निश्छल अवलम्बन होता है इसी प्रकार संसारसंकटोंसे बचकर आनन्द पदमें निवास करनेमें इन अष्टप्रवचन मातृकाओंका बड़ा हस्तावलम्बन है। जो जीव न भी विशेष ज्ञानी हो, किन्तु अष्टप्रवचनमातृका का यथार्थ ज्ञान और आचरण करने वाला हो तो उसमें भी वही बल प्रकट होता है जिस बलके प्रकट होने से इसे समस्त द्वादशांगका ज्ञान हो जाता है और अंतमें केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

व्यवहारका प्रयोजन— यह व्यवहारचारित्रका प्रकरण है, किन्तु निश्चयकी अपेक्षा छोड़कर कोरा व्यवहार करने से उस व्यवहारीको आत्मसंतोष न होगा, भले ही कल्पनाजन्य संतुष्टि हो जाय, पर परमार्थतः आत्मसंतोष न होगा और कर्मबंधन भी नहीं कट सकता। व्यवहार निश्चयकी पात्रता बनाने के लिए हुआ करता है। व्यवहार ही सर्वस्व हो जाय, धर्म हो जाय ऐसा नहीं है। व्यवहार एक संकेत है, बाह्य प्रवर्तन है। लक्ष्य तो निश्चयका है। जैसे मां जब बच्चेको गोदमें लेकर छतपर खड़ा होकर चंदामामाको दिखाती है तो उस चंदा मामाको दिखाते हुएमें वह क्या प्रयोग करती है? अंगुलीसे दिखाती है, बच्चा भी अंगुलीको नहीं देखता है किन्तु अंगुलीके रास्ते से उस चन्द्रमाको देखनेका यत्न करता है। यदि वह अंगुलीको ही देखता रहे तो चन्द्रका क्या पता पड़ सकता है? ऐसे ही जितने व्यवहार ज्ञान हैं, व्यवहार आचरण हैं इन सबका लक्ष्य कोई निश्चय हुआ करता है। कोई उस संकेतको ही पकड़कर रह जाय तो उसे निश्चयका अनुभव नहीं जग सकता है।

व्यवहारके आलम्बनकी पद्धति— कई वैद्यों की टोली किसी पहाड़ पर चली बूटियां तलाशनेको। उनमें से एक प्रमुख है, वह एक सवा हाथकी लाठी लेकर लोगोंको समझाता है— देखो एक जड़ी यह है, एक जड़ी यह है, उस समय उस जैसा मूढ़ कोई न होगा जो लाठी को ही तकतार है। वह लाठी जहां-जहां इशारा करती है उस उस लक्ष्यको लोग देखते हैं, फिर जिनमार्गमें भी सीधीसी बात है। व्यवहारमें भी विवेकी लोग लक्ष्य छोड़कर व्यवहार पकड़नेकी मूर्खता नहीं करते हैं, फिर व्यवहार वर्णन चलता है तो वहां व्यवहारको ही पकड़कर रह जायें ऐसा क्यों हो जाता है? यह सब मोहका प्रताप है। जैसे मांके द्वारा दिखाये जाने वाले चंदाको देखते समय यदि अंगुलीका अवलम्बन छोड़ दे तो भी काम नहीं बनता है, अथवा जैसे वह वैद्य अपनी लाठीका इशारा करके दिखाता है और

कोई लाठी का भी अवलम्बन अगर छोड़ दे तो वह तो पहिचान नहीं कर सकता, यदि उन दोनों व्यवहारोंका आलम्बन रखकर भी व्यवहारको छोड़कर आगे बढ़नेकी प्रकृति उसमें पड़ी हुई है। ऐसे ही व्यवहारका आलम्बन छोड़ दे तो भी काम बन नहीं सकता है। व्यवहारका आलम्बन करता भी है ज्ञानी, फिर भी व्यवहारका अलम्बन करता हुआ भी व्यवहारसे आगे के लिए उन्मुख रहा करता है।

व्यवहारमें रहकर भी व्यवहारसे परे की दृष्टि— ऐसे साधनोंके समय जिनका व्यवहार बढ़ जाता है जान बूझकर डटकर दृढ़ पकड़ना होता है ऐसी इसमें असहज वृत्ति तो व्यवहार को ही सर्वस्व मानने पर होती है, किन्तु जो निश्चयपथका अनुगमन करना चाहते हैं उनको व्यवहारका आलम्बन आगे बढ़नेके लिये होता है। जैसे नीचेसे ऊपर यहां लोग आते हैं, किन्तु इस जीनेमें कितनी सीढ़ियां हैं शायद किसीको मालूम नहीं होगा। आते हो रोज-रोज लेकिन किसी को पता हो तो बतावो। शायद किसीको न विदित होगा। आप सीढ़ियोंसे चढ़कर उनका आलम्बन लेकर यहां तक आते हैं पर सीढ़ियोंके आलम्बनके समय भी क्या आपने किसी सीढ़ीसे प्यार किया ? क्या किसीने कभी किसी सीढ़ीसे कहा कि रे सीढ़ी ! तू बड़ी अच्छी है, हम तुम्हें नहीं छोड़ेंगे ? अरे न छोड़ोगे तो पकड़े खड़े रहो। उन सीढ़ियोंका ऊपर तक आनेमें आलम्बन लिया जाता है। उनके आलम्बन बिना हम आप ऊपर चढ़ नहीं पाते हैं। फिर भी उन सीढ़ियोंसे आंतरिक प्रेम किसीने नहीं किया। जिस सीढ़ी पर पैर रख लिया उस सीढ़ीको आंखोंसे देखते भी नहीं, आगेकी सीढ़ीको देखते हैं। ऐसे ही जो निश्चय तत्त्वके अभ्यासीजन हैं जिन्हें सुविदित है भली प्रकार कि ऊपरी स्थान तो वह है जहां हम रोज कई बार जाते हैं, निःशंक होकर सीढ़ियों का आलम्बन करके उसका लक्ष्य रखकर ऊपर आ जाते हैं। यों ही निश्चयतत्त्वके अभ्यासी, अंतस्तत्त्वके रुचिया ज्ञानी पुरुष मार्गमें आये हुए व्यवहारका आलम्बन करते हैं। उस आलम्बनमें भी निश्चयकी ओर उन्मुखता होती है और निश्चय भावनामें प्रवेश हो जाता है। इन अष्टप्रवचनमालिकाओं का उन साधुवोंके मार्मिक ज्ञान बना रहता है।

कल्याणका मूल भेदविज्ञान— एक साधु था। उन्होंने एक व्यक्तिको एक बात पढ़ा दी थी – मा तुष, मा रुष। इसका अर्थ है किसी भी पदार्थमें न संतोष करना और न रोष करना। वह न समझा ज्यादा, पर उसे याद कर लिया। जल्दी-जल्दी याद करते में उसको तुषमाष ध्यानमें रह गया मापके मायने हैं उड़दकी दाल। इस 'माष' शब्दमें मूर्धन्य 'ष' है। बहुत

दिनके बाद जब वह व्यक्ति सड़कसे जा रहा था तो एक महिला सड़कके किनारे बैठी हुई उड़दकी दालके छिलके निकाल रही थी। उसे बड़ा बनाना होगा। तब उसने देखा तो ज्ञान हो गया। ओह माष तुष, भिन्न-भिन्न जैसे यह उड़दका छिलका उड़दसे बिल्कुल भिन्न है देखो रूप भी अलग है, यह छिलका काला है और दाल सफेद है तथा अलग भी हो रही है। इस ही तरह यह मैं आत्मा इस शरीर छिलकेसे अत्यन्त भिन्न हूं—ऐसा वहां प्रतिबोध हुआ। जिसे समझ हो उसके लिए थोड़ी भी बात बहुत है और जिसे समझ नहीं है उसके लिए बहुत भी बकवाद व्यर्थ है। वक्ता हो अथवा श्रोता हो सबका लक्ष्य एक होना चाहिए कि मेरा कल्याण कैसे हो?

इस जगत्की असारता—यह मायामयी दुनिया जिसमें ये होने वाले सारे व्यवहार स्वप्नवत असार है, यहां होने वाले इन व्यवहारोंसे मुझ आत्माका कुछ भी पूरा न पड़ेगा। क्या है, आज मनुष्य है, पुण्योदय है, वैभव समागम है, कुटुम्बका योग है, ये सारी बातें हैं और कल्पना करके खुश भी होते जा रहे हैं, किन्तु क्या यह सदा रहेगा और जब तक साथ है तब तक भी सच तो बतावो इसके कारण तुम निरन्तर शांत और सुखी रहते हो? सबकी अपनी-अपनी बातें न्यारी-न्यारी हैं, किसीको किसी तरहका क्लेश है, किसीको किसी तरहका क्लेश है, किसीको किसी तरहका विशाद है। इन समागमोंमें समागमके कालमें भी आनन्द नहीं है और जब समागम बिछुड़ेगा तब भी आनन्द नहीं है, लेकिन मोही जीव इन समागमोंको ही सर्व कुछ सर्वस्व जानता है, ओह मुझ जैसा पुण्यवान् कौन है? इतने मकान बना लिये हैं, वैभव बढ़ा लिया है, इतना कुटुम्ब बन गया है। मुझ समान पुण्योदय वाला कौन है? अरे यह नहीं जानते कि ये सब स्वप्नवत् हैं, असार हैं। बल्कि कल्पनाएँ करके अपना बिगाड़ किए जा रहे हैं।

आत्मीय वैभवके अवलोकनका आनन्द—अपने जो महापुरुष हुए हैं जिनकी हम संतान हैं, उन महापुरुषोंने क्या किया था? उन्होंने धन सम्पदामें ही मरण नहीं किया था। कोई तो कुमार ब्रह्मचारी ही रहकर संन्यस्त हो गये थे और कोई कुछ थोड़ा घरमें फंसकर अंतमें त्यागकर साधु हो गये थे। उन्हें आनन्द मिला निर्जन एकान्त जंगलमें, जहां दूसरा कोई बात करनेको भी नहीं था। खुद ही खुदसे बातें करते जाते थे और आनन्दमग्न होते जाते थे। उस आत्मीय वैभवके अवलोकनमें जो आनन्द प्रकट होता है वह आनन्द किसी भी विषयके प्रसंगमें नहीं है। ऐसा जिसके दृढ़तम ज्ञान है ऐसा ही पुरुष इस आरम्भ परिग्रहका त्याग

करके सत्य शाश्वत आनन्दका अनुभवका किया करता है।

जैन प्रयोगोंकी सारता व निष्पक्षता— भैया! सारे रूप बारबार रक्खे जा सकते हैं किन्तु यह साधुताका रूप बारबार नहीं रखा जा सकता है। एक बार रखा फिर उसका त्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि साधुता के मिलने पर उसे ऐसा अतुल आनन्द प्राप्त होता है कि वह फिर अन्यत्र कहीं जा ही नहीं सकता। जैसे कोई एक बार ही जैन मूर्तियोंकी मुद्राका चावसे दर्शन करले अथवा जैन शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन करले अथवा जैन गुरुवोंका सहवास करले तो फिर वह वहींका वहीं रह जायेगा, हट नहीं सकता। वहांसे क्यों हटे? आखिर चाहिए तो आनन्द ही ना। जब आनन्द मिल गया फिर हटनेकी आवश्यकता क्या है? इसी कारण जो इस वीतराग धर्मके विद्वेषी होते हैं वे यह प्रचार कर डालते हैं कि चाहे मर जावो पर जैनदर्शनके निकट मत पहुंचो। इस पर विवेकी दृढ़तम उत्तर देते हैं कि क्यों न पहुंचें, जब कि जैन दर्शन खुले आम यह घोषणा करता है कि तुम सर्व दर्शनोंकी बात जानो, आत्माकी और अनात्माकी बात जानो। अरे तुम आत्महितैषी हो, तुम जहां हित जंचे वहां रम जावो। यों ही एक बार गृहस्थीका परित्याग करके साधुता अङ्गीकार की जाय तो फिर वह दूसरा रूप नहीं बदल सकता।

बहुगुलालकी साधुता— बहुगुलाल मुनि जो नाना भेष रखा करते थे उनसे एक बार किसी बहुगुलालके द्वेषी ने ईर्ष्यावश राजा को यों समझाया कि महाराज जरा इससे सिंहका रूप तो रखावो। राजाने कहा कि तुम कल सिंहका रूप रखकर आना। तो बहुगुलाल बोला, महाराज सिंहका रूप तो रख लूँगा, पर कहीं खून किसीका हो जाय तो माफ करना। हां हां माफ। वह आया सिंहका रूप रखकर। वैसा ही शौर्य वैसा ही बल रखकर वह आया तो राजाके पुत्रने उसे कुछ व्यंगात्मक शब्द कहे जैसे आ गया कुत्ता आदि तो उसके गुस्सा आया, जोश आया और पंजा मार दिया, वह राजपुत्र मर गया। सभामें हाहाकार मच गया, पर क्या किया जाय? राजा वचनवद्ध था। फिर उसी विद्वेषीने राजाको सिखाया कि महाराज! इससे मुनिका रूप दिखावो। राजाने कहा कि ऐ बहुगुलाल! तुम मुनिका रूप धरकर दिखावो, तो बहुगुलाल बोला कि इस रूपके तैयार करनेमें हमें ६ महीने लगेंगे। उसने ६ माह तक खूब ध्यान, मनन चिंतवन किया और ६ माह बाद दरबारके सामने से मुनि बनकर निकल गया। लोगोंने बहुत समझाया कि लौट आवो क्योंकि दरबारमें आपका जैसा व्यक्ति मनको हरने वाला और कोई न मिलेगा तो बहुगुलाल मुनिने कहा

कि यह रूप एक बार रखकर फिर हटाया नहीं जा सकता। इस व्यवहार-चारित्रमें जो लक्ष्य निश्चयचारित्रका रखता है वह साधुपुरुष धन्य हैं और ऐसे साधुपुरुषोंकी उपासना करने वाले श्रावकजन भी सराहनीय हैं।

अन्तस्तत्त्वकी साधनाका फल— परमात्मतत्त्वके दर्शनमें निरन्तर मग्न रहनेकी धुन रखने वाला यह साधु पुरुष चिंतन कर रहा है कि मेरा स्वरूप तो योगरहित है, मैं अपरिस्पन्द हूं और यह शरीरका परिस्पंद शरीरका विकार है, मैं अविनश्वर स्थिर आत्मतत्त्वको प्राप्त होता हूं और शरीरके विकारको छोड़ता हूं, मन, वचन, कायके विकारका त्याग करता हूं—इस प्रकार जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति कायगुप्तिमें पूर्ण निष्णात हो गये हैं, निष्पन्न योगी हो गये हैं ऐसे पुरुष निज ज्ञायकस्वरूपके दर्शन से उत्पन्न होने वाला जो प्रसाद है उसके प्रतापसे अरहंत अवस्थाको प्राप्त होते हैं। उनही अवस्थाके सम्बन्धमें कुन्दकुन्दाचार्यदेव अब व्याख्यान कर रहे हैं।

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥७१॥

निर्दोष देव— जो घनघाति कर्मसे रहित हैं, केवलज्ञानादिक परम गुणोंसे सहित हैं, ३४ अतिशय करके संयुक्त हैं ऐसा परम आत्मा अरहंत कहलाता है। इस गाथामें भगवान् अरहंत परमेश्वरका स्वरूप बताया गया है। यह अरहंतस्वरूप, भागवतस्वरूप, परमेश्वररूप है। जहां गुणोंका परम विकास है और सर्वदोषोंका अभाव है, ऐसा केवल निजस्वरूपमय आत्मा परमात्मा अरहंत कहलाता है, कब तक? जब तक कि वह शरीर-सहित है। अपनी साधनाके प्रतापसे शरीरसहित अवस्थामें ही परमात्मा हो जाता है, अर्थात् ज्ञानविकास द्वारा तीन लोक, तीन कालके समस्त तत्त्वोंका ज्ञाता हो जाता है। उसके चारघातिया कर्मोंका अभाव है।

मोहनीयके क्षयका क्रम— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इनमें से सबसे पहिले मोहनीय कर्मका विनाश होता है। मोहनीय कर्ममें दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय इनमें ३ दर्शन मोहनीय और २५ चारित्रमोहनीय इन २८ प्रकृतियों में दर्शन मोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीयके आदिम चार— इन ७ प्रकृतियोंका जब क्षय हो जाता है तो क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है। इन ७ प्रकृतियोंमें दर्शन-मोहनीयकी ३ प्रकृतियां तो सम्यक्त्वघातक हैं ही, किन्तु अनन्तानुबंधी क्रोध मान, माया, लोभ, इनमें दो स्वभाव पड़े हैं—चारित्रका भी विनाश करें और सम्यक्त्वका भी विनाश करें, यों ७ प्रकृतियोंका विनाश पहिले

होता है। इसके पश्चात् श्रेणी पर पहुंचने पर अर्थात् शुक्ल ध्यानकी अवस्थामें संज्वलन लोभको छोड़कर २१ प्रकृतियोंसे २० प्रकृतियोंका विनाश हो जाता है और संज्वलन लोभका विनाश होता है। दसवें गुणस्थानके अन्तमें यों दसवें गुणस्थान तक उस मोहनीयका सर्वापहारी लोप हो जाता है।

मोहनीयके क्षयके पश्चात् शेप तीन घातियाकर्मोंका युगपत् क्षय—क्षपकश्रेणीमें बढ़ते हुए जीव दसवेंके बाद एकदम १२ वें गुणस्थानमें पहुंचते हैं। कहीं यह नहीं जानना कि १० वें के बाद छलांग मार कर १२ वें में पहुंचता है। ११ वें को छोड़कर यह गुणस्थान भींतके ईंटकी तरह बंध हुए नहीं हैं। जो परिणाम हो उनका ही नाम गुणस्थान है। १० वें गुणस्थानके परिणामके बाद एकदम मोहरहित अवस्था हो जाती है। इसका नाम है बारहवां गुणस्थान। अब यह साधु परमेष्ठी १२वें गुणस्थानके अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको एक साथ क्षय कर देता है। यों १२ वें गुणस्थानके अन्तमें चारघातिया कर्मोंका अभाव हो जाता है। १२ वें गुणस्थानमें इन कर्मोंका विनाश होता है, इसका अर्थ यह है कि १२ वें के अन्त तक तो वह है और १३ वें के प्रारम्भमें वह नदारत है। यों घनघातिया कर्मोंसे रहित यह सयोगकेवली जिन हो जाता है।

सयोगकेवलीका आकर्षण— इस सयोगकेवली भगवान्को भगवान् के रूपमें निरखा जाता है। साधुके ५ भेद किये हैं पुलाक, बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ व स्नातक। ये भगवान् सयोगकेवली हमारे स्नातक साधु हैं। नहा चुके हुए साधु, धुल चुके साधु। अब कोई कर्मफल इन पर नहीं रहा। अरहद्भक्तिमें बड़ी विशेषताएँ हैं क्योंकि अरहंतदेवमें साकारता निराकारता का समन्वय है, सगुण और निर्गुणका समन्वय है। भगवान् हमारे कुटुम्बी हैं और मुक्तजीवोंके भी कुटुम्बी हैं, ऐसा समन्वय है। इस कारण अरहंत भगवान्की बहुत बड़ी विशेषताएँ हो जाती हैं। दूसरे के लड़केमें कोई कला हो तो उसको देखकर अन्तरङ्गके रोम उतने नहीं खिल पाते हैं जितने कि अपने बच्चेमें कोई कला आ जाने पर खिल जाते हैं। अरहंत भगवान् यहीं तो रहते हैं। आज यहां नहीं हैं न सही, पर वे इसही ढाई द्वीपमें तो रहा करते हैं। मनुष्योंके बीच ही तो रहा करते हैं। मनुष्य उनको नजर भर तृप्त होकर देखा तो करते हैं। जिनकी वीतरागताके प्रतापसे सोलह स्वर्ग करीब करीब खाली हो जाते हैं, और उनके देव समवशरणमें जाया करते हैं। यह किसका आकर्षण है? यह निर्दोषताका आकर्षण है। निर्दोष व्यक्ति सबका बंधु है, सदोष व्यक्ति भाईका भी बंधु

नहीं है। ये अरहंत परमेश्वर भावकर्मोंसे अत्यन्त रहित हो गये, अकलुष हैं इसलिए स्वर्ग भी खाली हो जाते हैं और स्वर्गवासी देव प्रभुके चरणोंमें आकर अपना जन्म सफल करते हैं।

घनघातिया कर्म और उनके विनाश करनेका उपाय— ये घातिया कर्म हैं घन मेघकी तरह। जैसे मेघके कारण सूर्य छिप जाता है, छिप जाने पर भी कुछ प्रकाश तो रहता ही है। ऐसे ही इन ज्ञानावरण कर्मोंके कारण निमित्त पाकर समझो यह ज्ञानसूर्य छिप गया है, छिप जाने पर भी ज्ञानका फिर भी कुछ प्रकाश रहता है। कोई जीव ज्ञानके प्रकाशसे शून्य नहीं है, सूना नहीं है। फिर भी उस ज्ञानको आवृत करने वाले कर्मों का जब अभाव होता है तो ऐसा ज्ञानप्रकाश विस्तृत होता है कि तीन लोक तीनकालके समस्त पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं। क्या कहा जाय? इन कर्मोंके हटनेकी बाट जोही जाय क्या, क्योंकि कर्मोंके हटनेका निमित्त पाकर ज्ञानविकास होता है। जैसे कर्मोंके अभावका निमित्त पाकर ज्ञानविकास होता है ऐसे ही आत्माकी शुद्धदृष्टिका निमित्त पाकर ये कर्म भी हट जाया करते हैं। अपना जोर अपने पर चल सकता है। कभी अपने कुटुम्बीसे किसी दूसरेसे लड़ाई हो जाय तो वहां कुटुम्बका प्रधान पुरुष अपने कुटुम्बी पुरुषपर जोर डालता है तभी उसके कार्यकी सिद्धि है। दूसरे पर जोर डालनेसे विवाद बढ़ता है और फिर दूसरे पर कोई जोर चला भी नहीं सकता, यों ही हमारे कुटुम्बी हैं हमारे ज्ञानादिक गुण और पर हैं ये कर्म। इन कर्मों पर हम क्या जोर चला सकेंगे? हम अपने ही स्वरूप पर जोर चला सकते हैं। सब व्यथावों से संकटोंसे दूर होनेका उपाय अपने आपके स्वरूपका अवलोकन और उसका ही आचरण है।

अनात्माको स्वीकार करनेसे अनुपमेय बरबादी— भैया! यह धन पैसा वैभव ये सब धूलकी तरह निःसार हैं। कभी इस बीच यह याद आ जाय तो फिर रोटी कैसे खायें, पेट कैसे भरें? अरे कीड़ा मकौड़ा कैसे पेट भर लेते हैं, और और मनुष्य कैसे पेट भर लेते हैं? जिस कर्मके उदयसे इतना श्रेष्ठ मनुष्यजन्म और कुल तथा धर्म मिला है वहां ऐसी योग्यता भरी ही होती है कि प्राण रहने लायक गुजारा चलता ही रहे किन्तु यह मनुष्य प्राण रहने तककी ही नहीं सोचता, यह तो यह चाहता है कि मैं इस मानवसमाजमें विशिष्ट स्थान पाऊँ, आदर पाऊँ, धनी कहाऊँ, और उस मान कषायकी पुष्टिके लिए, धनसंचयके लिए अत्यन्त व्यग्र हो रहा है। और कदाचित् कोई उदर पूर्तिके लिए भी व्यग्र हो तो ऐसे अपवादरूप विरले ही पापके उदय वाले पुरुष होते हैं। आजीविका

का साधन प्रायः प्रत्येकके उदयके साथ लगा हुआ है। इन असार पर जड़ पौद्गलिक पदार्थोंमें अपने उपयोग यों फंसाना कि यह ही मेरा सब कुछ है यह यहां मूढ़ता है। सोचते भी जावो तो भी कुछ नहीं होता है। मानने से भी परपदार्थ अपने नहीं हो जाते हैं। मोही तो केवल इन्हें अपना मानकर अपनेको बरबादीपर तुला है।

आत्मतत्त्वकी उपासनाका प्रताप— यह साधु परमेष्ठी वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानके बलसे समस्त अनात्मतत्त्वोंसे हटकर निज शुद्ध ज्ञायक स्वरूपमें मग्न होता है। उसके प्रतापसे ये अरहंत प्रभु हो जाते हैं। जिस किसीको यह पता भी न हो कि ८ वां गुणस्थान यों है, ६ वां गुणस्थान यों है, इस तरह की क्षपकश्रेणी है, इस तरहकी निषेकवर्गणायें व अति स्थापनाएँ रहती हैं, यों यों कर्मोंका विध्वंस होता है, न कुछ पता हो, केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपका ही अनुभव हो तो वे सारे काम स्वयमेव हो जाते हैं। जिनका वर्णन करने के लिए श्रुतकेवली भी थक सकता है। एक मात्र काम है बढ़े चलो, अपने स्वरूपमें बढ़े चलो, मग्न रहो। करे तो कोई ऐसी हिम्मत किसी भी क्षण नहीं हो सकता है। २४ घंटे तो न सही, पर उन २४ घंटों में से दो एक मिनट भी ऐसी झलक चले तो बाह्यमें कहीं प्रलय न मच जायगी, घर जमीनमें न धँस जायगा। निरन्तर चितावोंका बोझ किसलिए लादते हो ? यह साधुपरमेष्ठी इस शुक्लध्यानके प्रतापसे जहां रागद्वेष का धब्बा नहीं, ऐसे बिल्कुल सफेद ध्यानके प्रतापसे यह घन-घातिया कर्मोंको हटा देता है।

प्रभुमें घातिकर्मकी मलरहितता— ये घातिया कर्म हैं आत्माके गुणोंका घात करने वाले। ये घनरूप हैं, सान्द्रीभूत हैं, ठोस हैं। जैसे गहन अंधकार हो जाता है, उस बीच कहीं अवकाश नहीं मिलता है। ये कर्म सब घन हैं, गहन है। इनके बीच कहीं अवकाश नहीं है। इस जीवके साथ जो यह शरीर लगा हुआ है उस शरीरमें अनन्त परमाणु हैं, जिनका अंत नहीं आ सकता। निकलते जावें, पर इनकी गिनतीका अन्त नहीं आ सकता और इससे भी अनन्तगुणे ऐसे शरीररूप बन सकनेकी उम्मीद रखने वाले विश्रसोपचय पड़े हैं, उनसे अनन्तगुणे तैजस शरीरके परमाणु पड़े हैं, उन-से अनन्तगुणे कर्म परमाणु पड़े हैं और अनन्तगुणे उम्मीद रखने वाले कहीं यह बच्चा भाग न जाय, ऐसा पहरा लगाते हुए विश्रसोपचय कार्माणवर्गणाके परमाणु पड़े हुए हैं। सोचो ये कर्मवर्गणाएं कितनी शाश्वतभूत हैं, घन हैं, ऐसे ये ज्ञानावरण दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म उनसे भी अत्यन्त विरहित हैं। इस निर्दोषताके कारण ये सकल विबुध

मनोहारी हैं। लोकमें भी निर्दोषता और गुणवत्ताका आदर है। मोहवश सदोषसे, निगुणीसे जितना मोह कर सको, करो, पर ऊब जावोगे अवश्य प्रकृत्या झुकाव निर्दोषता और गुणवत्ताकी ओर होता है।

प्रभुकी अशेषगुणसम्पन्नता— भगवान अरहंतदेवमें समस्त गुण आ गये और दोष एक भी नहीं है। सम्बंधमें मुनि मानतुंगाचार्यने कहा है—
को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि॥

कहते हैं कि हे नाथ! आपका आश्रय समस्त गुणों ने ले लिया, अर्थात् समस्त गुण आपमें प्रवेश कर गये। हमें तो इस मामलेमें कुछ भी आश्चर्य नहीं मालूम होता है। क्या आश्चर्य है इसमें? ये सारे गुण हमारे पास आये, हम सब संसारी प्राणियोंके पास आये और भिक्षा मांगने लगे कि हमें ठहरनेके लिए जगह दे दो, पर हम सब संसारके प्राणियोंने उन्हें ललकार दिया, उन्हें ठहरनेके लिए जगह नहीं दी। कहा कि जावो यहां जगह नहीं है। तब दुनियांके सारे लोगोंके पाससे भागकर सारे गुण झक मारकर आपमें आ गए। तो इसमें क्या विशेषता है? हम तो विशेषता तब जानें जब कि हम उन गुणोंको अवकाश दें और वे सारे गुण आपके पास पहुंच जायें, तब तो हम आपकी महत्ता जानें? हम सब संसारी प्राणियोंसे सारे गुण इसीलिए दूर हो गए कि उन्हें ठहरने के लिए अपने घरमें जरा भी स्थान नहीं दिया। इसका हम प्रमाण बतायें। सुनो भगवन्! हम सब लोगोंने दोषोंको खूब जगह दे रक्खी है। ये दोष भी हम सब संसारी प्राणियोंके पास आये, कहने लगे कि हमें ठहरनेके लिए जगह दे दो तो हां हां यह तुम्हारा ही तो मकान है, ऐसा कहकर उन्हें जगह दे दी गई। तो बतावो एक भी दोष क्या आपके पास आ सका? नहीं आ सकाना। इसी से ही भगवान तुम निर्णय करलो कि आपमें यदि समस्त गुण आ गये तो आश्चर्य क्या? यों समस्तगुणसम्पन्न निर्दोष अरहंत परमात्मा हो जाता है जो साधु शुक्ल ध्यानमें मग्न रहता है।

साधुसाधनाफल अरहंत परमेष्ठी— तेरह प्रकारके चारित्रोंके निश्चय और व्यवहार साधनाके फलमें यह अन्तरात्मा भगवान अरहंत परमेष्ठी होता है, उस ही अरहंतस्वरूपका यह वर्णन चल रहा है। वह अरहंत भगवान निर्मल केवलज्ञान, केवलगुप्ति और केवलसुखसे सहित है। यद्यपि प्रभुकी ऐसी स्थिति है कि वह समस्त पदार्थोंको जानता है, किन्तु अपने आनन्दरसमें लीन है, ऐसी सम्पदा और परमशांतिसे सहित है, लेकिन वहां तो होती है शांतिकी स्थिति और यहां तीनों लोकमें भगदड़ मच

जाती है। प्रभुके केवलज्ञान होने पर स्वर्गलोक खाली होने लगता है भगवानके चरणोंमें आनेके लिए अधोलोकके देव, अधोलोकके देव व इन्द्र आते हैं मनुष्य और तिर्यञ्च भी पहुंचते हैं। तीनों लोकमें एक बड़ा क्षोभ हो जाता है। क्षोभ केवल विषादमय अवस्थाको ही नहीं कहते हैं, किन्तु हर्षमय अवस्थामें भी क्षोभ होता है।

आकर्षणका कारण गुणविकास— तो तीनों लोक के ऐसे हर्षपूर्ण क्षोभका कारण प्रभुका गुणविकास है। ऐसा किसी को कहा जाय तो बड़ा भद्दा लगेगा। भगवान् को तो हुआ गुणोंका विकास और यहां लोकमें मच गई भगदड़। यहीं देखलो। आये तो हैं दसलाक्षणीके दिन, लेकिन सब जैनियोंमें खलबली मच गयी। तो ऐसा जो प्रक्षोभ है वह धर्मको लाने वाला है। ठीक है मान लिया, पर १२ महीने तो इतना प्रक्षोभ नहीं मचता जितना कि इन १० दिनोंमें मचा। मंदिरके पास बैठो तो इतना हल्ला मचता है कि सड़कोंपर सुनाई देता है। पूजन १२, १ बजे तक होता है, कहीं कुछ हो रहा है, कहीं कुछ हो रहा है, दसलाक्षणी आयी तो जैन समाजमें उथलपुथल होने लगी। यद्यपि यह उथलपुथल धर्मके भावसे है पर हुआ तो प्रक्षोभ।

गुणविकासका साधन— प्रभुमें सब जीवोंके आकर्षणका यह गुण विकास कैसे हुआ है? अन्तरंगकारण तो उनका ही उपादान है। बहिरंग कारण घातियाकर्मोंका प्रध्वंस विनाश है। जिन घातियाकर्मोंको प्रभुने पहिले संसार अवस्थामें बोया था उनके प्रध्वंसकी स्थिति उत्पन्न हुई है। प्रभु समस्त विश्वके ज्ञाता द्रष्टा होकर भी अपने आनन्दरसमें लीन रहा करते हैं। प्रभुमें और हम आपमें द्रव्यतः अन्तर नहीं है। प्रभुकी कथनी करके ही संतुष्ट मत हो जावो। प्रभुके गुण गा दिये, इतने मात्रसे ही अपने को कृतार्थ न समझो, किन्तु यह साहस बनावो कि यह मैं आत्मा जो अनादि कालसे घोर दुःखोंमें चल रहा हूं। उसमें बड़ी सामर्थ्य है, जो अनन्तचतुष्टयसम्पन्न प्रभुमें पाया जाता है वही सामर्थ्य हम आपमें भी है।

प्रभुभक्तिका उद्देश्य— प्रत्येक प्रसंगमें जीव अपना लाभ चाहता है। धनिकोंसे सम्बन्ध रक्खे और कोई लाभका प्रयोजन वहां न रखे तो वह एक पागलपनसा प्रतीत होता है। ज्ञानियोंमें कोई अपना प्रसंग रक्खे और ज्ञानकी अथवा शांतिकी कोई भावना न करे तो उसका भी वह निरुद्देश्य प्रसंग है। यों ही धर्मकी साधना करे और वह कुछ न बन सके तो वह सारा श्रम ही व्यर्थ है। हम प्रभुकी जीतोड़ भक्ति करें, दूकान भी

खराब करें, समय भी खराब करें, रोजगार धंधेमें भी फर्क डालें, घरके मौज भी सब छोड़ दें, एक बार भोजन करें, सारे श्रम करें और प्रभुकी भक्तिके लिए तन, मन, धन, वचन न्योछावर कर डालें तो कुछ लाभ तो लूटना चाहिए। लाभका तो उद्देश्य कुछ न बनाया और प्रभुके गुण गाते रहे तो यह तो उसी तरह है जैसे कि धनी पुरुषके गुण गाते रहें और लाभ कुछ न पायें, अपना दरिद्र जन मिटायें। उससे अच्छा तो यही था कि किसी नेतासे, धनिकसे मिलकर कुछ लाभ कर लेते। यों ही धर्मके नाम पर तन, मन, धन, वचन न्योछावर कर डालें और लाभकी प्राप्ति कुछ न की तो सारा श्रम ही व्यर्थ रहा। क्या इसमें कुछ लाभ है? लाभ तो यह है कि हम बारबार यह भावना बनाएँ और तुलना करें कि जो प्रभु का स्वरूप है, जो प्रभुमें सामर्थ्य है, ज्ञान और आनन्दका जो चरमविकास है वह ही मेरा स्वरूप है, मेरा भी वही विकास हो सकता है, ऐसी दृष्टि डालें।

भैया! प्रभुता पाने के लिए ज्ञानसिंचन करें और अपने चारित्र अंकुरको बढ़ायें, यह तो है लाभ वाली बातका उपाय। यह न कर सके तो कुछ भी न कर सके। यह अरहंत प्रभु सर्वशरणभूत है, आदर्शरूप है, परमोपकारी है। देखो णमोकार मंत्रमें सर्वोत्कृष्ट परमेष्ठी सिद्ध भगवान हैं। आठों कर्म नष्ट हो गये हैं, शरीर तक का भी प्रसंग नहीं है। धर्मद्रव्य की तरह अत्यन्त शुद्ध चेतनतत्त्व है, किन्तु जब परमेष्ठियोंका स्मरण किया, प्रणमन किया तो सर्वप्रथम बोलते हैं णमो अरिहंताणं, अरहंतोंको नमस्कार हो, यही कारण है कि अरहंत और सिद्ध दोनों ही अंतरंग भाव की अपेक्षा तो समान हैं। केवल एक बाह्यमेलका अन्तर है। कर्मअघातिया लगे हैं और शरीर लगा है, इतनी त्रुटि तो अवश्य है, लेकिन प्रामाणिकता में, अंतरङ्ग विकासमें कोई अंतर नहीं है। और फिर यदि अरहंतपरमेष्ठी न होते या उनके प्रवाहसे यह उपदेश न मिलता तो सिद्ध परमेष्ठीको कौन जानता? जितने परमागम हैं इन सबकी मूल परम्परा अरहंत भगवान् हैं। मंगलाचरणमें कहा भी है कि— अस्य मूलग्रन्थकर्तारः सर्वज्ञदेवाः। ऐसे वे अरहंतदेव अनन्तचतुष्टयसे सम्पन्न हैं। उनमें यह व्यक्त अनन्त चतुष्टय और हम आपमें है यह स्वभाव अनन्त चतुष्टय। प्रभुभक्तिका लाभ तो यही है कि हम अपने आपमें भी अपनी शक्तिके अनुसार विकास कर सकें।

प्रभुकी आदर्शरूपता— दीनताके लिए प्रभुकी भक्ति नहीं है, हे प्रभु तुम मालिक हो, मैं दास हूं। सुख दो, दुःख मेटो यह तुम्हारी बान है और

हमारी बान है विषयकषायोंमें लगना (हँसी)। अब झड़में भक्त कैसे मिलेगी ? हे नाथ ! तुम्हारा तो दयालु स्वभाव है, यदि तुम सुख न दोगे, दुःख ही देते रहोगे तो फिर तुम्हारी दयालुता ही कहां रही ? वहां तो यह कहते हैं और यहां अपने कुटेवमें अन्तर नहीं डालना चाहते। अरे कुटेवमें अन्तर डालो और अपने श्रद्धान ज्ञान आचरणसे चलो तब भी आपका भगवान सुख न दे, यह कैसे हो सकता है ? भगवान तो आदर्शरूप है, सच्चिदानन्दमय है, ज्ञान दर्शनस्वरूप है, उनका तो स्मरण ही हमारे पाप हरने वाला है। भगवान मेरे पाप नहीं हरते, किन्तु भगवानके स्मरण से हमारे पाप हट जाते हैं। प्रभु सुख नहीं देता, किन्तु प्रभुके गुणोंका जो अनुराग है वह सुख देता है। प्रभु तो आदर्शरूप हैं।

तीर्थंकरोंके जन्मके दश अतिशयोंके सम्बन्धमें— वह प्रभु ३४ अतिशय करि विराजमान है। अरहंतोंमें जो तीर्थंकर हैं वे तो समस्त अतिशयों कर सम्पन्न हैं, किन्तु जो तीर्थंकर नहीं हुए हैं, साधारण केवली अरहंत हैं उनमें यथासम्भव यह अतिशय होता है। उनमें केवलज्ञानसे पहिले होने वाले जो अतिशय हैं। उनमें संख्याकी विषमता है। किसीके सब होते हैं व किसीके सब नहीं होते हैं। प्रभु अरहंत तीर्थंकर भगवानमें देखो, जन्मते ही ये १० चमत्कार प्रकट होते हैं। अतिशय सुन्दर रूप सुगंधित शरीर, उनके शरीरमें पसीना तक नहीं न कभी निहार होता, प्रिय हितकर वचन बोलने की उनके प्रकृति है और अतुल्य बल है। देखो सामुद्रिकशास्त्रमें जो हस्तरेखा विज्ञान है वह इस आधार पर है कि जो पुरुष जैसा उत्कृष्ट होता है पुण्यवान होता है, पवित्र होता है वह वैसे ही शुभ और सुभग शरीरको प्राप्त होता है। इस बुनियाद पर यह सब सामुद्रिक विज्ञान है। बहुत सुडौल सुन्दर हाथ हों, उनके पवित्र लक्षणोंको दर्शाने वाले चिन्ह हों कि यह पुरुष उत्कृष्ट पुण्य वाला है, उत्कृष्ट विचारों वाला है। जो पुरुष कुछ ही भवोंसे मोक्ष जाने वाला है, विश्वके जीवोंका उद्धार करने वाला है ऐसे उत्कृष्ट पुण्यवान पुरुषको कैसा शरीर मिलेगा ?

तीर्थंकरोंके शरीरमें श्वेताकार रुधिर एवं शुभ लक्षण— तीर्थंकरका शरीर हम आपके शरीरसे बहुत अधिक अतिशयवान होता है। तीर्थंकर प्रभुका खून श्वेतके आकारका अर्थात् सफेद बताया है। कोई सुने तो क्या कहे ? कहीं खून भी सफेद होता है, पर डाक्टर लोगोंसे पूछो तो वे बता देंगे कि सफेद खून भी होता है और लाल खून भी होता है। हम आप सबके दोनों ही प्रकारके खून पाये जाते हैं। लाल खूनकी शक्ति अधिक बढ़ जाय तो उसमें बीमारियां अधिक होती है, श्वेत खूनकी शक्ति अधिक

हो जाय तो उसमें शक्ति विशेष प्रकट होती है। इस सम्बन्धमें एक कविकी कल्पना है कि जो मां एक बच्चेसे प्यार करती है उसके शरीरमें दूध उत्पन्न हो जाता है, झर जाता है। एक बच्चे के प्यारमें शरीरके कुछ हिस्सेमें दूध आ जाता है और जो सारे विश्वके जीवोंपर प्यार करे उसके सारे शरीरमें दूध की तरह श्वेत बन जाय, यह एक प्रेमभरी बात है और वैसे तो शरीरमें श्वेत खून सबके हुआ करता है, किसीके कम किसीके अधिक। उनका विशेष अतिशय है सो श्वेतताकी अधिकता है।

शरीरके शुभ लक्षण— उनके शरीरमें १००८ लक्षण होते हैं। तिल, मसा, रेखा, चक्र, चिन्ह, ध्वजा, मछली, धनुष, चक्र आदिक अनेक चिन्ह होते हैं। ये उनके जन्मसे ही अतिशय हैं। क्या इन महापुरुषोंके हाथ पैरके लक्षणोंको देखकर शास्त्रोंमें लिखते हैं कि ये लक्षण होते हैं या शास्त्रोंमें लिखनेके बाद यह निर्णय किया है कि ये शुभ लक्षण हैं? अरे इन महापुरुषों के लक्षणोंको ही देखकर लिख डालो कि ये सब लक्षण शुभ हुआ करते हैं। तीर्थंकर अरहंतदेवके जन्मसे हो १००८ लक्षण हुआ करते हैं।

समचतुरस्रसंस्थान व वज्रर्षभनाराचसंहनन— शरीरका नाप नाभि से चलता है। नाभि शरीरके बीचकी जगह है। समतुरस्रसंस्थानमें जितनी लम्बाई हो उतनी लम्बाई नीचे पैरों तक होनी चाहिये। आज यह कुछ कठिनसा हो गया है। प्रायः नाभिसे नीचेके अङ्ग, टांगें बहुत बढ़ जाती हैं और ऊपरका हिस्सा थोड़ा रह जाता है। आजकल लगभग ऐसे ही शरीर दिखनेमें आते हैं, किन्तु यह शुभ शरीर नहीं हैं। शुभ शरीर होगा तो नाभिसे ऊपर नाभिसे नीचे समान लम्बाई होगी। हाथ कितने लम्बे हों, नाक कितनी लम्बी हो? सबके परिमाण इस एक शुभलक्षणके आधारसे हैं। ठीक उस ही प्रकार हों तो समचतुरस्रसंस्थान होता है। जो मूर्तियां जैनसिद्धान्तके अनुसार बनती हैं उनमें यह परिमाण रखा जाता है, खड्गासन मूर्ति हो तो पद्मासन मूर्ति हो तो, नाभिसे ही समस्त हिसाब रखे जाते हैं। तीर्थंकर प्रभुके व सभी अरहंतोंके जन्मसे ही वज्रवृषभ नाराचसंहनन होता है। ये जन्मते ही तीर्थंकर प्रभुमें १० अतिशय प्रकट हो जाते हैं।

तीर्थंकरोंके जन्मतः दस अतिशय— इस तरहके सभी अतिशय तर्थंकरों में होते हैं और इनमेंसे अतिशयोंको छोड़कर अनेक अतिशय सामान्यकेवलीके भी जन्मसे चलते हैं। जैसे वज्रवृषभनाराचसंहनन। यह जन्म समयसे चला, और भी कुछ लक्षण होते हैं, पर जन्मते ही ये १० अतिशय तीर्थंकर अरहंत प्रभुके हैं। तीर्थंकरोंमें इस युगके आदिमें आदि-

नाथ भगवान प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। कितने ही वर्ष हो गये होंगे, कितने ही कोड़ाकोड़ी वर्ष हो गये होंगे, आजकी बात नहीं। जिस समय प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान उत्पन्न हुए थे उस समय से ही लोकमें उनका प्रताप चला आ रहा है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेवका प्रताप— आदिम देवने लोगोंका कितना संरक्षण किया था? इससे ही अंदाज लगालो कि तबसे ही लोकमें यह प्रसिद्धि हुई है कि ईश्वर सृष्टिका करने वाला है। जब भोगभूमि थी तब लोग चैनसे रहते थे। जब उसकी समाप्ति हुई तो लोग बेचैन रहने लगे। उस समय असि मसि कृषि वाणिज्य आदि सब कर्मोंका प्रयोगात्मक शिक्षण ऋषभदेव भगवानने दिया था। १४ मनुवोंमें अंतिम मनु नाभिराजा थे। लोग नाभि राजाके पास विनती करने आये तो उन्हें ऋषभदेव के पास भेजा। कहा कि ऋषभदेवमें ही सर्व सामर्थ्य है। यह गृहस्थावस्था की बात है, वे जब संन्यासी न हुए थे तबकी बात है। तो प्रजारक्षार्थ वे सब उपदेश देने लगे, उन्होंने लोगोंके रक्षणका उपाय बताया। तबसे यह प्रसिद्धि चली कि भगवानने सृष्टि की। वे नाभि राजासे ही उत्पन्न हुए थे। तो नाभिसे कमल निकला। कमलमें एक देव उत्पन्न हुआ, उन्होंने रक्षा की। ये सब अलंकारिक भाषामें है। कोई किसी रूपमें मानते हैं, कोई किसी रूपमें। किसी ने आदम बाबा मान लिया। आदमका अर्थ है आदिम इस महायुगके शुरूमें जो उत्पन्न हुए वह हैं तीर्थंकर आदिनाथ। उन्हें कोई आदमके रूपमें, कोई ब्रह्माके रूपमें, कोई सृष्टिकर्ताके रूपमें, यों अनेक रूपोंमें तभी से बात प्रचलित होती आयी है। ऐसे प्रभु अरहंत देव कैसे हुए हैं? इसका वर्णन चल रहा है।

अरहंत प्रभुके केवलज्ञानके दस अतिशयोंमें से सुभिक्षता व गगनगमनका अतिशय— प्रभु अरहंत भगवान ३४ अतिशयोंके स्थान हैं, इसमें १० स्थानोंका वर्णन किया। अब १० स्थान केवलज्ञानके होते हैं। प्रभुके केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर क्या-क्या अतिशय प्रकट होते हैं? उनमें पहिला है १०० योजन चारों ओर सुभिक्षका होना। भगवान जहां विराजे हों उसके ४०० कोश चारों ओर सुभिक्षका होना। सब सुखी हों, अन्न आदिक अच्छा पैदा हो, ऐसे अतिशय स्वयमेव होते हैं। भला घरका मुखिया अच्छी तरह आबाद रहे तो फिर घरके लोगोंको दुःखका क्या काम है? ऐसे ही इस विश्वके प्रधान जहां विराज रहे हों, उनके चारों ओर बहुत दूर तक जीव दुःखी रहें, ऐसा क्यों हो? प्रभुका गमन आकाशमें होता है। हम आपकी भांति जमीन पर उनका गमन नहीं होता। लोग प्रभुको देखते

भी हैं ऊपरकी ओर तो लोकमें सिद्ध प्रभु विराजमान् हैं और अपने आप से ऊपरमें अरहंतदेव विराजमान् हैं।

चतुर्मुखदर्शन और अदयाभावका अभाव— प्रभुके ऐसा अतिशय होता है कि सभावोंके चारों ओरसे प्रभुका मुख दिखता है। प्रभुका समवशरण गंधकुटी, उनकी उपदेश सभा गोल होती है। चारों ओर बैठने वाले कब निर्व्यग्र हो सकते हैं जब चारों ओरसे मुख दीखे। भगवानके मुख चार नहीं होते हैं किन्तु चारों ओरसे उनके दर्शन होते हैं, और इसी लिए कोई लोग चतुर्मुख कहते हैं प्रभुको। वह प्रभु किस प्रकार चतुर्मुख है? जैसे स्फटिक मणि स्वच्छ हो तो उसमें दोनों ओरसे प्रतिबिम्ब दिखता है। स्फटिक पाषाण भी ऐसा ही होता है, वह स्फटिक पाषाण मूलबद्रीकी तरफ बहुत पाया जाता है। इसमें भी आगे पीछे दोनों तरफ से प्रतिबिम्ब दिखता है। तो स्फटिक मणिसे विशिष्ट स्वच्छ जिनका परमौदारिक शरीर है उनके अगर चारों ओरसे मुख दिखने लगे तो क्या आश्चर्य? चारों ओरसे मुख दिखे, इसमें परमौदारक शरीरका अतिशय है। प्रभुके अदयाभाव नहीं रहता। उनके राग भी नहीं, द्वेष भी नहीं और साथ ही यह जानना कि भगवानके निकट किसी भी जीवके अदयाभाव नहीं रहता है। यह भी एक अतिशय है। प्रभुकी भक्तिवश ही तो दर्शनार्थ वहां पहुंचते हैं। उनके चित्तमें इतनी उज्ज्वलता होती है कि उन भक्त प्राणियोंके भी उदयाभाव नहीं रहता है।

प्रभुके उपसर्गका अभाव— प्रभु पर कोई उपसर्ग नहीं कर सकता। प्रभुके बिल्कुल निकट ही तो कोई नहीं पहुंचता। यक्ष इन्द्र भी जो सेवा करते हैं अब वे बाहर-बाहर ही खड़े रह कर सेवा कर देते हैं। यों समझ लीजिए जैसे घरमें बालक पैदा हुआ तो बचपनमें सभी गोद खिलाते हैं। मां, बाप, चाचा, चाची सभी खिलाते हैं और वही बालक बड़ी अवस्थाका विद्वान् त्यागी हो जाय, साधु हो जाय, फिर उसे उसके मां, बाप, चाचा, चाची क्या गोदमें खिलायेंगे? नहीं खिलायेंगे। जैसे लोग दूरसे दर्शन कर लेते हैं इसी तरहसे दर्शन करनेकी उनकी प्रवृत्ति बनती है, किन्तु वे प्रभु हैं, भले ही इन्द्रोंने उन्हें गोदमें लिया, अभिषेक किया, उनके साथ खेले, कुछ मन भाया, गृहस्थावस्था तक ये संगम रहे, ठीक है और कदाचित् मुनि अवस्था तक भी ऐसी सेवा रही, ठीक है, और केवलज्ञान होने के बाद इन्द्र भी उनसे दूर रहकर, निकट रहकर, उन्हें न छूकर अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं।

प्रभुके कवलाहारका अभाव— प्रभु के कवलाहार नहीं होता। वे

ग्रास लेकर आहार नहीं करते। कोई-कोई प्रभु अरहंत अवस्थामें ८ वर्ष कम १ करोड़ पूर्व तक रह सकता है याने करोड़ों वर्ष तक भगवान रहकर विहार करें और उन समस्त करोड़ों वर्षों तकभी वे कवलाहार नहीं करते। उनका ऐसा परमौदारक शरीर है कि शरीरवर्गणाएँ अपने आप इतनी पवित्र इतनी शक्तिमान उनके शरीरमें प्रवेश कर रही हैं कि कवलाहारकी आवश्यकता ही नहीं है। जैसे कोई आदमी खा नहीं सकता तो आजकल एक इन्जेक्शन चला है--गुलूकोज का इन्जेक्शन देते हैं। जो कवलाहार तो नहीं करते, मुखसे आहार नहीं करते, उनके यह इन्जेक्शन दे देने से दो चार दिन उसे भूख नहीं लगती। यह आहार तो यहांका है, तो समझ लीजिए कि जहां प्राकृतिक शुद्ध शरीरवर्गणायें आ रही हों, यों ही भगवान को करोड़ों वर्षों तक कवलाहारकी आवश्यकता नहीं होती है।

प्रभुके समस्त विद्यावोंका ऐश्वर्य और प्रभुदेहमें नख, केशकी वृद्धि का अभाव— ये प्रभु समस्त विद्यावोंके स्वामी हैं। विद्या मायने जानना। कौनसी विद्या उन्हें जानने को रह गयी ? सारे लोकके समस्त परिणमन जब ज्ञानमें आ चुके हैं तब और क्या रह गया है ? वे सब विद्यावोंके ईश्वर हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् प्रभुदेहके नख और केश नहीं बढ़ते हैं। पहिले बढ़ते हैं किन्तु केवलज्ञान होनेके बादका यह अतिशय है। अब तो उनका परमौदारक शरीर है। क्या बताएँ जिस पुरुषका परिणाम निर्मल होता है और बहुत कालसे निर्मल होता चला आया है, उसको सुन्दर शरीर मिलता है, उसका स्वास्थ्य सुन्दर रहता है और शरीरमें दुर्गन्ध नहीं रहती, मलमें दुर्गन्ध नहीं रहती, ऐसी बहुतसी बातें तो निर्मल परिणाम होने वाले लोगोंके हुआ करती हैं। जो ऋद्धिधारी मनुष्य हैं उनके ऐसा अतिशय हो जाता है कि उनके मल, मूत्र, थूक, खकारका स्पर्श हो जाय अथवा उनकी छूटी हुई वायु जिनके लग जाय तो वे स्वस्थ हो जाते हैं, बीमारी हट जाती है। यह प्रताप उनके निर्मल परिणामका है। प्रभु अत्यन्त निर्दोष हैं, गुणोंके परमविकासके स्थान पवित्र पुरुष हैं, अरहंत देव हैं। उनके शरीरमें यह अतिशय भी हो जाता है कि नख और केश वृद्ध नहीं होते हैं।

अनिमिष नयन व निश्छाया देहका अतिशय— प्रभुके आंखोंकी पलक नहीं गिरती। वह पलक न बहुत ऊँची उठी रहती है, न नीची रहती है किन्तु सहज बड़े विश्रामके साथ जैसे कभी आप बैठते हैं इसी प्रकारकी दृष्टि प्रभुकी रहती है। जल्दी-जल्दी कभी अपन लोगोंके कमजोरीके

कारण आंखें मिच जाती हैं-ऐसा लगता है ना। तो उन प्रभुका परमौदारक शरीर है, अतुल्यबल है, वहां आंखें नहीं मिचतीं, उनका शरीर स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ होता है, इस कारण उनके शरीरकी छाया भी कहीं नहीं पड़ती है। जैसे हम धूपमें चलते हैं तो शरीरकी छाया पड़ती है, पर इस तरह प्रभुकी छाया नहीं पड़ती। जो कांच बिलकुल निर्मल पड़ा हो, उसे भी धूपमें रख दो तो उसकी भी छाया नहीं पड़ती। जो चारों ओरसे स्वच्छ हो, यों ही स्फटिकमणिकी तरह पवित्र परमौदारिक शरीरकी भी छाया नहीं पड़ती है। ये १० अतिशय केवलज्ञान होने पर प्रभुके प्रकट हो जाते हैं।

निर्दोषताका आकर्षण— इनके अतिरिक्त १४ अतिशय और होते हैं, जिनमें देवोंके प्रबन्धकी बात है। प्रभुकी अन्तःस्वच्छताके प्रतापके आकर्षणके कारण देव इस प्रकारका प्रबन्ध करते ही हैं। देखो जीवका बड़प्पन निर्दोषतामें है, धनवैभवमें नहीं है। प्रभु अरहंतदेव जब सर्वरागद्वेषोंसे मुक्त हो गये, पूर्ण गुणसम्पन्न निर्दोष हो गए, तब देखो स्वर्गोंसे देव इन्द्र खिंचे आ रहे हैं। अधोलोकसे भवनवासी, व्यन्तर चले आ रहे हैं और इस लोकसे बड़े बड़े मनुष्य, तिर्यंच चले आ रहे हैं, यह महत्त्व निर्मलताका है, निर्दोषताका है। निर्दोषतामें जब महत्त्व बढ़ता है तो अत्यन्त अधिक बढ़ता है और नहीं तो कुछ ऐसी भी स्थिति आती है कि कोई पूछने वाला भी नहीं रहता है, पर पूर्णनिर्दोषतामें अत्यधिक महत्त्व बढ़ता है। यह जगत् दोषियोंके रहनेका स्थान है, जहां निर्दोषताका छोटा भी मूल्यांकन न हो सके और जैसे कि आजकलके शासनकी चर्चा करते हुए लोग कहते हैं कि राज्यके किसी काममें ईमानदारीसे रहनेका जमाना नहीं है, रहे तो रह न सके ईमानदारीसे। ईमानदारीसे गिरे हुए लोग रहने नहीं देते। तो यहां निर्दोषताका मूल्यांकन नहीं होता। फिर भी यदि अपनी निर्दोषतामें डटा रहे और अपना ध्येय बनाले कि मुझे सदाके लिए ऐसा करना युक्त ही है तो कुछ समय पश्चात् मूल्यांकन होगा।

निर्दोषताका वैभव— किसी राज्याधिकारी महापुरुषके गुजरने पर देश और विदेशसे लोग आंखें लगायें, सम्वेदना प्रकट करें, यह आन्तरिक वैभवके बलकी बात नहीं है, बल्कि इसमें तो कितने ही लोग खुशी भी मना सकते हैं—अच्छा हुआ मर गया, हम लोगोंको बहुत परेशान करता था; किंतु निर्दोषतामें वह महान् बल है कि जहां तक गति हो, निर्दोषताकी प्रसिद्धि हो; वहां तकके जीवोंका उस ओर आकर्षण होता है। प्रभु अरहंतदेव पूर्णनिर्दोष हैं, कोई दोष नहीं है। इसलिए देखो स्वर्गोंसे देव-देवियां

नाना प्रकारसे संगीत-गायन-नृत्य करते हुए भगवानके दर्शनको आने लगते हैं। मनुष्य लोग भी गान-तान करते हुए दर्शनको जाते हैं।

अर्हद्भक्तिका एक दृश्य—किसी भी समय जब कहीं भी खूब सुन्दर बाजे बज रहे हों, जैसे कि बैण्ड बाजा या बीन वगैरह बज रहे हों और यह पता न हो कि ये बाजा किसीकी बरातके हैं या पुत्रोत्पत्तिके समयके हैं और आप यह ध्यान लगाकर बैठ जायें कि प्रभुका यों समवशरण है, देव-इन्द्र-देवियां कैसे सुन्दर गीत और संगीत करते हुए आते हैं, लो ये आ रहे हैं। यह समवशरणमें विराजमान् प्रभु हैं और कभी यह ख्याल आ जाए कि यह तो मनुष्य लोग बजा रहे हैं जो बाजे कानोंमें सुनाई दे रहे हैं तो उस समय आप समझ लेंगे कि जब मनुष्योंमें भी बड़ी कला है कि इतने सुन्दर गीत संगीत कर सकते हैं तो कलाओंके पुञ्ज देव-देवियां कितने मधुर नाचपूर्ण गीत-संगीत करते हुए आते होंगे? इतना सोचनेके बीच थोड़ा यह भी ध्यान लावो—अहो! यह समस्त प्रताप प्रभुकी निर्दोषता का है, वीतरागता का है। उक्त प्रकारसे आप भक्तिमें प्रगतिसे घुसते चले जाते हैं और जब यह ख्याल आ जाय कि अहो! ऐसी निर्दोषताका स्वरूप तो मेरा भी है। क्यों इतना बंधन पड़ा है? तब आपके आंसू आपके स्वागत करने लगेंगे। उस समय हर्ष, विशाद, आनन्द, ध्यान और ज्ञान—इन सबका जो संमिश्रित भाव होगा, उस भावको कोई बता नहीं सकता।

दिव्य भाषा—प्रभु अरहंतदेवके इस प्रतापके कारण देवता लोग भी अतिशय किया करते हैं, उन अतिशयोंमें पहिला अतिशय है प्रभुकी अर्द्धमागधी भाषा। देवकृत अतिशयमें बताया है—सम्भव है कि आज-कलके लोग कुछ ऐसे यंत्रोंका आविष्कार कर रहे हैं, सुना है ऐसा कि बोलने वाला किसी भी भाषा में बोले; किन्तु दो चार भाषाओंके लोग भी अपनी अपनी भाषामें सुन सकेंगे। हम नहीं कह सकते कि इसमें कितना मनुष्यके प्रयोगका हाथ है और कितना यंत्रका हाथ है। यह तो यहां के बड़े वैज्ञानिक लोगोंकी बात है। देवोंके इन्द्रोंके विज्ञानका तो शुमार क्या है। क्या करते होंगे? अर्द्धमागधी भाषामें यों वाणीका प्रसार होता है कि वहां सुनने वाले लोग करीब मगध देशके होंगे या कोई हों, वे सब सुन लेते हैं। भला बतलावो कोई एक नेता भाषण करने आता है तो लोग कितना बड़ा मंडप बनाते हैं, कैसा सुहावना स्टेज लगा देते हैं, कितने ही लाउड-स्पीकर लगा देते हैं और कितना-कितना प्रबंध रखते हैं? भला जो इस विश्वका सर्वोपरि नेता है, उस नेताका जहां सहज भाषण हो रहा हो;

दिव्यध्वनिका निर्गमन हो रहा हो और जहां शोभा श्रृङ्गार करने वाला इन्द्र है, वह कैसी अद्भुत आकर्षक रचना होगी ? अतिशयोंमें अर्द्धमागधीभाषा का होना, यह प्रथम अतिशय है ।

पारस्परिक मित्रता व षड्ऋतुफलन— सर्वजीव आपसमें मित्रताका बर्ताव करते हैं । यह तो प्रभुके निकट उपस्थित होनेका अतिशय है, पर इसमें आत्मदेवका भी कुछ हाथ है । ऐसा वातावरण प्रत्यक्षरूप, परोक्षरूप, रचनाके रूपमें बनता है कि वहां जो जीव पहुंचते हैं उनकी आपसमें मित्रता रहती है । सिंह और मृग भी एक सभामें बैठें तो उनमें भी परस्पर में विरोध नहीं रहता है । सर्प और नकुल भी एक साथ बैठे रहते हैं । निर्मल दिशाएँ हो जाती हैं, निर्मल आकाश हो जाता है और ६ ऋतुवोंके फल-फूल फलने लगते हैं । असमयमें तो वृक्षके फल किसी उपायसे अब भी लोग कर सकते हैं, जो उनका उपाय हो, जैसी गर्मी चाहिए, जैसा वातावरण चाहिए, उस उपायसे असमयमें फल उत्पन्न अब भी किए जा सकते हैं । वहां तो कुछ कमी ही नहीं है, प्रभुकी निकटता है, देवोंका प्रबन्ध है । असमयमें फलने-फूलने वाले वृक्ष एक साथ फल-फूल दिया करते हैं । उस समय पृथ्वी कांचकी तरह निर्मल हो जाती है । पहिले तो जीवके इन अद्भुत प्रबन्धोंको ही निरखकर विषयकषायोंके परिणाम शिथिल हो जाते हैं और जब प्रभुके दर्शन करते हैं तो वहां विषयकषायोंका रहना नहीं होता है ।

निःसहिका उपयोग— भक्तजन मन्दिरमें दर्शन करने जब जाते हैं तब मन्दिरके द्वारसे लोग निःसहि-निःसहि बोलते हैं । इसका परमार्थ प्रयोजन यही है कि हमने रागद्वेषभावोंसे २३-२३ घण्टे दोप किया है । अब हम जा रहे हैं भगवानके दरबार, कुछ वहां इन रागद्वेषोंके विषयकषायोंकी दाल गल नहीं सकती है । ये विषयकषाय मिट जायेंगे । यहां चिरकालके उन दोषोंकी दोस्ती निभाई जा रही है, सो शुरूमें यह आवाज दे रहे हैं कि हे विषयकषायोंके परिणाम ! तुम निकल जावो । निःसहिका अर्थ है निकल जावो ताकि तुम्हें यह कष्ट न हो कि अचानक ही क्यों नष्ट कर दिया ? यों सूचना देते हुए लोग निःसहि बोलते हैं । प्रभुके निकट ये रागद्वेषके भाव रह नहीं पाते ।

प्रभुपादपद्मतलस्थ हेमपद्मकी शोभा— भगवान् अरहंतप्रभु आकाश में विहार करते हैं और जब वे विहार करते हैं तो उनके चरणोंके नीचे कमल रचे जाते हैं, ये देवकृत अतिशय हैं । एक चरण तो वह, जहां रखा हुआ है उसके नीचे कमल है और आगे ७ कमल और रचे गए हैं, पीछे

भी सात कमल हैं। एक पंक्तिमें १५ कमलोंकी रचना होती है यह एक युक्ति है, भक्तिका परिचय है। जैसे यहां लोकमें किसी बड़े पुरुषके शुभागमनमें कपड़े बिछाते हैं, रेशमी कपड़ा बिछाते हैं, वैसे ही वे प्रभु आकाशमें गमन करते हैं तो देवता उनके चरणकमलोंके नीचे कमल रच देते हैं। जहां प्रभुके दोनों चरण विराजमान् हों वहां एक समृद्धिकी रचना हो जाती है। ऐसा होनेके लिए प्रभुने क्या किया था कि इस भगवान् आत्माके जो ज्ञान दर्शनरूप दो चरण हैं उनको उन्होंने अपने उपयोगमें विराजमान किया था, उस सहजज्ञान, सहजभावकी उन्होने आराधना की थी, तब उन्हें अन्तरङ्ग अनुभवकी समृद्धि प्राप्त हुई। तब फिर उनके अतिशयोंमें बाह्यअतिशय यदि स्वर्णकमलोंकी रचना है तो कौनसे आश्चर्यकी बात है ?

देवकृत अनेक अतिशय— देवगण आकाशमें ही जय-जयकी ध्वनि गूँज लगाते हैं, मन्द और सुगन्धित पवन चलाते हैं और सुन्दर सुगन्धित बहुत पतली जलकी बूँदें बरसाते हैं, सुगन्धित पुष्पोंकी वृष्टि होती है। जब वे विहार करते हैं। जिस दिशाकी ओर विहार करते हैं उस ओर देवगण ऐसा प्रबन्ध रखते है कि भूमिमें कोई कंटक न रहे, प्रभुकी भक्तिमें बाधा न पहुंचे। उस समय सारी सृष्टि हर्षमय हो जाती है। ऐसे भगवान्के केवलज्ञान होने पर इतना अतिशय देवतागणोंके द्वारा किया जाता है।

तीर्थङ्करबन्धका पुण्यप्रताप— यों ३४ अतिशयोंके निधान भगवान् अरहंतदेव होते हैं। भगवान् अरहंतदेव परमौदारक शरीर वाले हैं। उनके शरीरमें कोई अशुद्ध धातु उपधातु नहीं रहती है। उनके नेत्र शुद्ध विकसित रहते हैं, पलक नहीं गिरती है, महान् पुण्यके आश्रयभूत हैं। तीर्थंकर प्रकृतिसे बढ़कर और कोई प्रकृति नहीं होती है। भला बतलावो तीर्थंकर प्रकृति उदयमें तो आएगी १३ वें गुणस्थानमें, किन्तु तीर्थंकर प्रकृतिका चूंकि बन्ध किया है तो अन्य पुण्यप्रकृतियोंमें इतनी विशेषता आ जाती है कि उनके जन्मकालमें और जन्मकालसे भी ६ महिना पहिले देवगण खुशी मनाते हैं। बताते हैं कि तीर्थंकरके पिताके आंगनमें प्रतिदिन रत्नवृष्टि होती रहती है। ६ महिने पहिलेसे लेकर जब तक वे बाहर न आ जायें, जन्म न हो जाए अर्थात् १५ महीने तक रत्नवृष्टि होती है।

तीर्थङ्करबन्धका नरकगतिमें भी प्रताप – कोई जीव नरकगतिसे आकर यदि तीर्थंकर बनता है तो जब उस नारकीकी आयु ६ महीने शेष रहती है तो उस नरकमें एक विक्रियामयी कोट रचा जाता है और वहां पर वे नारकी सुरक्षित, सर्वदुःखांसे रहित, कोई पीड़ा न दे सके— ऐसी स्थितिमें रहते हैं। नरकगतिमें निरन्तर दुःख हैं, किंतु जहां तीर्थंकर होते

है। इनको अपनी आयुके अन्तिम ६ महीनामें कोई बाधा नहीं रहती है। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध ही तो किया, उदय नहीं है, पर उस बन्धकी भी इतनी महत्ता है कि तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके साथ जो अन्य पुण्य प्रकृतियां हैं, उनमें इतनी विशेषता हो जाती है कि जन्मकालसे पहिलेसे ही एक हर्षमय वातावरण बन जाता है। कुछ ऐसा समझ लो जैसे कि जिस पुरुषके बारेमें यह विदित हो जाए कि यह पुरुष अब मिनिस्टर बनेगा, बनेगा तो दो माह बाद, पर पहिले ही उसकी आवभक्ति अधिक होने लगती है। यों ही तीर्थंकर होगा १३ वें गुणस्थानमें, लेकिन अभीसे इन्द्रका आकर्षण हो जाता है।

ज्ञानसूर्य— जिन तीर्थंकरका परमविकास हुआ है, मुनिजनोंके मोक्षमार्गके विकासके प्रमुख निमित्तभूत हैं, जिनके चार घातियाकर्म विनष्ट हो जाते हैं, जिनका चारित्र, जिनका स्मरण सर्वजीवोंको सुख उत्पन्न करने वाला है, वे परमप्रभु तीर्थंकर जयवन्त हों। ये प्रभु अरहंतदेव पूर्ण निष्काम काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह—इन समस्त शत्रुवोंसे रहित हैं, अजेय हैं। अब इन पर किसी भी देशका आक्रमण नहीं हो सकता। अनेक जीवोंके पुण्यबन्धके लिए वे निमित्तभूत हैं। जैसे कमलके विकासमें सूर्य निमित्त है, ऐसे ही जगत्के जीवोंके विकासमें ये प्रभु अरहंत निमित्तभूत हैं, इसलिए परमसूर्य हैं। यह सूर्य तो पौद्गलिक अन्धकारको नष्ट करनेमें कारण है, किंतु प्रभुसूर्य जीवोंके अज्ञानांधकारको नष्ट करनेमें हेतुभूत हैं। यह सूर्य तो कभी आतापका भी कारण बन जाता है, गर्मीकी वेदनाका भी कारण बन जाता है, किन्तु यह प्रभुसूर्य हर प्रकारसे जीवोंके शांतिका ही निमित्तभूत होता है। भगवान्की मुद्राके दर्शनसे, भगवान्की दिव्यध्वनि सुननेसे, भगवान्की उपदेश परम्परासे, प्राप्त हुए आगमके अध्ययनसे सर्वप्रकारसे जीवोंको शांति प्राप्त होती है।

आनन्दके कारणभूत— यह प्रभु सर्वजिवाबोंमें निधान परमआनन्दरूप परिणत हैं। दूसरेके सुखका कारण वही हो सकता जो स्वयं सुखी हो। जो स्वयं दुःखी है वह दूसरेके सुखका कारण कैसे हो सकता है? भगवान् सकल परमात्मा स्वयं अनन्तआनन्दमय हैं, इस कारण वे सर्वजीवोंके आनन्दके हेतुभूत हैं। आनन्द तो हमारा आपका कहीं खो नहीं गया है, कहीं भाग नहीं गया है, आनन्द तो स्वयंमें ही है, पर अपने उस निर्विकल्प आनन्दस्वरूपकी परख किए बिना बाह्यपदार्थोंमें आशा बना रहे हैं। उन बाह्यपदार्थोंकी भिक्षा मांग रहे हैं, इस कारणसे दुःखी हो रहे हैं, दुःखी प्रयत्न करके हो रहे हैं। सहज तो यह आनन्दमय ही है।

प्रभुभक्तिसे प्रभुताकी प्राप्ति— इस आनन्दमयस्वरूपका विकास प्रभुके हुआ है, सो वे सर्वप्राणियोंके आनन्दके कारण हैं। कोई सरागभक्ति करके, पुण्यबन्ध करके लौकिक सुख प्राप्त कर लेता है तो कोई शुद्ध भक्ति करके अपना मोक्षमार्ग बना लेता है। प्रभु अरहंतदेव सब जीवोंके सुखके कारणभूत हैं। संसारका संताप प्रभुके नहीं रहा, जिसके पास जो चीज है, वही चीज उसकी भक्ति और संगतिसेवासे मिला करती है। किसी ज्ञानवानकी सेवा करके आप धन कहांसे पा लेंगे ? धन पाया जा सकता है। किसी धनवानकी सेवा करके ज्ञान कहांसे पाया जा सकता है ? कुछ धन पा लोगे। प्रभु अरहंतदेव संसारके संतापसे दूर हैं और सहज अनन्त-आनन्दमय हैं। उनकी भक्तिके प्रतापसे जीव आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी प्रभुभक्तिमें यह विशेषता है कि धन प्रभु नहीं देते, किन्तु जो प्रभुकी भक्ति करता है, उसके ऐसा पुण्यका बन्ध होता है कि मनचाहा लौकिक सुख उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। ये लौकिक सुखके भी देनहार इस तरहसे हुए।

प्रभुकी विशेषतायें— इनमें प्रमुखता तो संसारसंताप हरनेकी है, इसी कारण ये सकल परमात्मा हरि कहलाते हैं। जो पापोंको हरे, उसे हरि कहते हैं। यह सकल परमात्मा हर कहलाता है। जो सर्वभाव-मलको दूर करे, उसे हर कहते हैं। यह ही भगवान् शिवस्वरूप हैं। शिवका अर्थ है आनन्द, कल्याण। यह कल्याणमय है अर्थात् शुद्ध सृष्टियोंकी रचना वाला है। अतएव यहीं ब्रह्मा हैं, अपने सुगम स्वाधीन ऐश्वर्यका स्वामी है, इस कारण ईश्वर है और स्वयं ही यह राम है। जिसके स्वरूपमें योगी-जन रमण करें, उसे राम कहते हैं। यह ज्ञान लोकालोकमें सर्वत्र व्यापक है, इस कारण यह विष्णु कहलाता है। बुद्ध ज्ञानमय है।

जयवाद— ऐसे प्रभु अरहंतदेव भक्तजनोंके आदर्शरूप हैं, संकटोंके हरने वाले हैं। जिनके चरणकमलमें बड़े बड़े राजा-महाराजा शीश नवाते हैं—ऐसे कषायरहित अपगतवेद शुद्ध सम्यक्त्वके धारी अरहंतदेव जयवन्त हों। भैया ! प्रभु तो जयवन्त हैं ही, किन्तु उनके स्मरणके प्रसादके धर्ममार्गमें लगे हुए हम आप भी जय प्राप्त करें—ऐसी भक्तके अन्तरमें भावना है। भक्तकी इस भावनाके कारण भक्त स्वयं उनका जयवाद करता है अथवा यों कहो कि भगवान् अरहंतदेवकी जो गद्दी है अर्थात् धर्मप्रचार, धर्मप्रसार। वह धर्मप्रसार जयवन्त हो, इसके लिए भगवान्‌की जय बोलते हैं।

प्रभुकी जीवन्मुक्तता— प्रभु अरहंतदेवको हम संसारी जीव तो कह नहीं सकते। जो निर्दोष हो गये, केवलज्ञानी हो गए—ऐसे प्रभुके सम्बन्धमें

अब उनके संसारपना कहना कैसे युक्त है ? साथ ही अभी वह स्थिति भी नहीं है कि शरीरके कर्म, लगाव, बन्धन—इन सबसे बिलकुल मुक्त हो गये हों। वे सशरीर परमात्मा हैं। उन्हें न संसारी कह सकते हैं और न सर्वथा मुक्त कह सकते हैं, अतः उनको जीवनमुक्त कहना चाहिए। वे शरीरमें बसते हुए भी मुक्त हैं। बाहरी मल लग गया है शरीरका और अघातिया-कर्मोंका प्रसंग है, किन्तु उनसे इस आत्माके गुणोंमें कोई बाधा ही नहीं आती है। ऐसा यह जीवन्मुक्त है, सर्वपापोंसे परे है। विभाव किसी प्रकार का भय उसमें सम्भव नहीं है।

तरणतारण— प्रभुने भव्यजीवोंके सर्वसंकटहारी मोक्षमार्गको प्रकट किया है। जैसे कोई पुरुष नदीमें से निकल कर पार हो रहा हो, पार हो चुका हो तो उसे यह अधिकार है कि दूसरी पार रहने वाले लोगोंको समझावे कि इस रास्तेसे आवो, इसमें न कहीं खड्डा है, न कहीं कोई धोखा है, तुम पार हो जावोगे। इसी तरह इस संसारसमुद्रमेंसे जो पार हो चुके हैं— ऐसे अरहंतभगवान्को यह शोभित और समर्थ अधिकार है कि वे विश्वके जीवोंको यह निर्देश दे सकें कि इस-इस विधिसे आओ। देखो इस विधिसे चलकर हम भी मुक्त हुए हैं। प्रभु यों नहीं कहते हैं, किन्तु उनका जो उपदेश है, उसमें ऐसी झलक पायी जाती है कि इस मार्गसे चलो तो तुम भी मुक्त हो जावोगे। तत्त्वका श्रद्धान् करो, इस शुद्ध आत्मतत्त्वका परिज्ञान करो और इस आत्मतत्त्वमें ही रम जावो तो इस विधिसे संसारसे पार हो जावोगे। यों निर्वाणमार्गका उपदेश करने वाले अरहंत प्रभु हमारे नयनपथ पर सदा चलने वाले रहें अर्थात् वे मेरी दृष्टिमें बने रहें।

भक्तिका महत्त्व— भक्तिमें अतुल प्रताप है। कोई यदि शुद्धव्यवहार भी पा ले, शुद्ध ज्ञान भी पा ले, चारित्र भी पा ले, लेकिन इस शुद्ध ज्ञानपुञ्ज भगवानमें यदि भक्ति नहीं जगती है तो समझ लो कि सहज परमनिर्बाध उत्कृष्ट, सत्य, आनन्दमहलमें जो किवाड़ पहिले से लगे हुए थे उनके खुलनेका अवकाश नहीं मिल सकता। उस आनन्दमहलमें मोहके किवाड़ लगे हुए हैं, उन किवाड़ोंमें विषयासक्तिका जो ताला लगा है उसके खोलने की कुञ्जी यथार्थ प्रभुभक्ति है। प्रभुभक्ति बिना किसी को मार्ग नहीं मिल सकता। शुद्ध आनन्दका विकास, शुद्ध ज्ञानका विकास ही मोक्ष कहलाता है, जिन्हें संसारके संकटोंसे छूटनेकी अभिलाषा है उन्हें चाहिए कि वे ज्ञानपुञ्ज आनन्दघन भगवानकी भक्तिमें अपना उपयोग लगायें।

कल्याणप्रवाह— ये भगवान कार्यपरमात्मा ऐसे विशुद्ध स्वरूप को देखनेसे उनके सहज स्वभावका भी सुगम परिचय होता है। और वहां

सहजस्वभावका परिचय होने के कारण अपने आपमें अपने सहजस्वभाव का परिचय होता है। जिसे आनन्दस्वरूप अपने आत्मतत्त्वका परिचय हुआ है उसे संसारमें कोई बाधा नहीं रही। यह है एक महान वैभव। यथार्थज्ञानके समान वैभव लोकमें अन्य कुछ नहीं है। बाह्य पदार्थ जो मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं, ये मुझमें क्या करामात कर सकते हैं? मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हूं। मोह छोड़ो, रागद्वेष हटावो और अपने शुद्ध आनन्दका अनुभव करलो। मिश्रीकी डली हाथमें है। किसी से पूछनेकी क्या आवश्यकता है कि यह कितनी मीठी होती है? अरे स्वयं खाकर समझलो। यहां तो फिर भी अन्तर है। मुँह दूर है, हाथ दूर है, डली भिन्न पदार्थ है, किन्तु आत्मीय आनन्दके अनुभवके लिए कोई भी अन्तर नहीं है। यह अनुभव करने वाला स्वयं है, यह आनन्द स्वयं है, और आनन्दके अनुभवकी पद्धतिसे अनुभव होता है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभुकी भक्तिसे अपने ज्ञानस्वरूपका विकास होता है, ऐसे हेतुभूत प्रभुकी भक्ति हम सब का कल्याण करती है।

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

सिद्धपरमेष्ठीका प्रकरण— इस गाथामें सिद्ध परमेष्ठियोंका स्वरूप कहा गया है। यह सिद्ध भगवान सिद्धकी परम्परासे निमित्तभूत भी हैं, यों कि जो निकट भव्य पुरुष सिद्धपरमेष्ठीके गुणविकासका ध्यान करते हैं और उस गुणविकासके स्मरणके माध्यमसे कारणपरमात्मतत्त्वकी उपासना करते हैं वे पुरुष निकट कालमें सिद्ध हो जाते हैं। यों सिद्धकी परम्परया हेतुभूत भगवान सिद्ध परमेष्ठियोंका इसमें स्वरूप कहा गया है।

सकलकर्म विप्रमोक्ष— प्रभु सिद्ध भगवान अष्टकर्मोंके बन्धनसे रहित हैं। चारघातिया कर्मोंके विनाशसे अरहंत अवस्था होती है और फिर आयुकर्मके अंतिम समयमें अघातिया कर्म एक समय विनष्ट होते हैं। यों ८ कर्मोंके बन्धनसे रहित सिद्धपरमेष्ठी होते हैं। कर्मोंके विनाशका कारण है शुक्ल ध्यान। यह शुक्लध्यान ८ वें गुणस्थानसे लेकर १३ वें गुणस्थान तक है। ८ वें गुणस्थानके पृथक्त्ववितर्कविचार शुक्लध्यानसे कर्मोंके क्षपणकी तैयारी होती है और नवम गुणस्थानवर्ती साधुवोंके उस शुक्ल ध्यानके बलसे प्रकृतियोंका क्षय प्रारम्भ हो जाता है। हां सम्यक्त्व घातिया ७ प्रकारका क्षय अवश्य पहिले धर्मध्यानके प्रतापसे और आत्मावलम्बनके प्रसादसे हुआ था। १० वें गुणस्थानमें भी पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यानके कारण संज्वलन लोभका विनाश होता है और १२ वें गुणस्थानके

एकत्ववितर्कवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यानमें शेष रहे तीन घातिया कर्मोंका अन्तिम समयमें एक साथ विनाश होता है और सयोग केवली अवस्थामें कषायरहित शुक्ल ध्यानके प्रतापसे स्वयं ही कर्मोंकी निर्जरा चलती है और केवली समुद्घातमें विशेषतया ३ अघातिया कर्मोंकी निर्जरा होती है। फिर अंतमें एक साथ चार अघातिया कर्मोंका अभाव हो जाता है।

निश्चयपरमशुक्लध्यान— जब साधकके निश्चय शुक्लध्यानकी स्थिति होती है, जहां सर्व प्रकारसे यह उपयोग अन्तर्मुखाकार होता है है, ध्यान ध्येयके विकल्पसे रहित निश्चय परमशुद्ध ध्यान प्रकट होता है, तब उस विशुद्ध अभेद ध्यानके प्रतापसे यथापद निर्जीर्ण होकर ८ कर्मोंके बन्धन समाप्त होते हैं। जब यह ज्ञान इस सहजज्ञानस्वरूपको एकाकार होकर जान लेता है अर्थात् जहां ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेयका एकीकरण हो जाता है वहां यह निश्चयपरम शुक्ल ध्यान उत्पन्न होता है। यह सिद्ध प्रभु ८ महागुणोंकर सहित हैं। वे ८ गुण हैं समकित, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहन, सूक्ष्म, अनन्तवीर्यत्व, निराबाध।

सिद्ध प्रभुमें क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक दर्शन— प्रथम है क्षायिक सम्यक्त्व। सम्यक्त्वका घात करने वाली ७ प्रकृतियोंका जहां क्षय हो चुका है और समीचीनता प्रकट हुई है ऐसे भावको कहते हैं क्षायिक सम्यक्त्व। मौलिक समीचीनताका नाम है सम्यक्त्व। जहां नाममें विपरीतता नहीं रहती है जिसके होने पर ज्ञान सही काम करता है और चारित्रगुण अपनी ओर उन्मुख हो जाता है ऐसी मौलिक समीचीनताको सम्यक्त्व कहते हैं। प्रभु सिद्धमें केवल दर्शनगुण प्रकट हुआ है। चार घातिया कर्मोंके भावसे जो सिद्धमें गुण प्रकट हुए हैं वे सिद्धसे भी पहिली अवस्थामें प्रकट हो चुके हैं।

दर्शनका दर्शन— दर्शन कहते हैं आत्मतत्त्वके स्पर्शको, शुद्ध परमविश्रामको। जैसे हम किसी पदार्थके जाननेमें व्यग्र है, जान रहे हैं, अब हम उस पदार्थके ज्ञानको छोड़कर अन्य पदार्थोंको जानने लगें तो पहिले पदार्थका जानना छूटा और नये पदार्थका ज्ञान नहीं कर पाया, इसके बीच यह उपयोग आत्माका स्पर्श करता है। इसका समय बहुत कम है, और जैसे कोई किसी कामकाजमें बड़ी तेजीसे लगा हो और जल्दी-जल्दी निकलते हुएमें थोड़ासा चौखट सरमें लग जाय तो भी उसका पता ही नहीं पड़ता है, क्योंकि उस काममें विशेष धुन थी, उसे जब स्पर्श किया तभी जान सके। ऐसे ही इन विषयकषायोंसे भरे हुए प्राणियोंका परपदार्थों

की ओर इतना आकर्षण है, इतनी तेज धुनि है कि एक पदार्थके ज्ञानको छोड़कर दूसरे पदार्थको जानने चलते है तो बीचमें आत्मका स्पर्श हो जाता है, पर इस मोही जीवको अपने जौहरका पता नहीं हो पाता है कि मैं कुछ आत्माके निकट भी आया था। उस समय जैसे वह आत्माके निकट आता है वैसा पता जिसे पड़ जाय, ओह यह मैं हूं तो उसको सम्यग्दर्शन हो जाता है।

छद्मस्थोंके दर्शन ज्ञानका क्रमशः उपयोग— यह दर्शन हम आप छद्मस्थ जीवोंके क्रमसे होता है। दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ, फिर दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ। दर्शनमार्गणा ४ बताये गए हैं- उससे मतलब है दर्शनका और ज्ञानमार्गणा जो ८ बताये गये हैं उससे मतलब है ज्ञानका। दर्शन और ज्ञान एक साथ हम आपके उपयोगमें नहीं होते हैं। ये दोनों गुण हैं और दोनों गुणोंका परिणमन निरन्तर चलता है। पर छद्मस्थ अवस्थाके कारण केवलज्ञान होनेसे पहिले अज्ञान अवस्थाके कारण यह दर्शन और ज्ञानका उपयोग एक साथ नहीं होता है। यह ही दर्शन जब दर्शनावरण कर्मका क्षय हो जाता है तो निरन्तर विकसित बना रहता है अर्थात् सिद्ध भगवानको तीनलोक तीनकालके पदार्थोंका भी ज्ञान निरन्तर चल रहा है और अपने आत्माका दर्शन भी निरन्तर चल रहा है, यों सिद्ध प्रभुमें केवल दर्शन नामक महागुण है।

प्रभुका केवलज्ञान— केवलज्ञान नामक महागुण भी सिद्ध प्रभुमें है। गुण पहिले अरहंत अवस्थामें भी प्रकट हो चुके हैं। केवलज्ञानके बल से सिद्ध भगवान तीनलोक तीनकालके समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानते हैं। कैसा उनके अलौकिक विलक्षण ज्ञान है, किस प्रकारसे प्रभु जाना करते हैं? इसका मर्म अज्ञानीको तो विदित हो ही नहीं पाता, पर ज्ञानी जीवके भी वचनके अगोचर है। जैसे हम खट्टा मीठा स्वाद जानते हैं अथवा काला पीला रूप जानते हैं; कोई ऐसा ही स्पर्श जानते हैं या ऐसे रूप रस गंध स्पर्श को जानना केवल प्रभुके नहीं बना रहता है। यह जानना तो विकृत ज्ञान है। खट्टा मीठा परखना यह सब जैसे हम जानते हैं यह सब विकृत ज्ञान है और ऐसा ज्ञान इन्द्रियोंके माध्यमसे हो पाता है। जहां इन्द्रियां नहीं हैं, केवल आत्मा ही आत्मा है, ज्ञानस्वरूप प्रकट हुआ है वहां वह केवलज्ञान किस प्रकार जान रहा होगा? यह वचनके अगोचर है और देखिये हम कभी रूप जानते हैं, कभी रस जानते हैं, कभी कुछ जानते हैं और वे प्रभु सर्वपदार्थोंको एक साथ जानते हैं तो उनका जानना किस रूपका होता होगा? इसको वचन नहीं पकड़ सकते।

प्रभुका ज्ञान इतना विशाल है कि उनके ज्ञानमें ये तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थ ऐसे प्रतिबिम्बित हो जाते हैं जैसे इतने महान् आकाशमें एक जगह तारा टिमटिमाता है। उस तारेको छोड़कर सारा ही आसमान खाली पड़ा है और ऐसे-ऐसे तारे अनन्त भी आ जायें तो भी इस आकाशमें समा जायें। यों ही यह समस्त लोक और कालवर्ती पदार्थ समूह भगवान्के ज्ञानमें तारेकी तरह एक कोनेमें पड़ा रहता है—ऐसे-ऐसे लोक अनन्त भी हों तो भी भगवान्के ज्ञानमें समा जायें अर्थात् सबको जान जायें— ऐसे विशाल ज्ञानके अधिपति प्रभु सिद्धभगवान हैं। यह महागुण है, तभी तो तीन लोकके जीव, इन्द्रदेव, चक्रवर्ती, मनुष्य, तिर्यंच सब खिंचे जा रहे हैं। थोड़ा यहींसे अन्दाज कर लो। भगवान्का कोई उत्सव-विधान हो, धारा-समारोह हो, रात्रिजागरण हो तो उसमें ही लोग कैसे खिंचे चले आते हैं, वे प्रभुकी भक्तिमें ही समय बिताकर आनन्द पाते हैं। इससे ही अंदाज करो। जहां साक्षात् अरहंत भगवान विराजे हों वहां तो तीनों लोकका कितना आकर्षण होता है? इसे भी वचनोंसे नहीं आंक सकते हैं। उन अरहंत परमेष्ठियोंसे भी जिनका और विशिष्ट रूपक है अर्थात् बाह्य मल भी जहां नहीं रहा है ऐसे सिद्ध परमेष्ठीका हम वचनोंसे क्या कथन कर सकते हैं? यह केवलज्ञान महागुणसे सम्पन्न है।

सिद्धोंका अगुरुलघुत्व गुण— प्रभुमें अगुरुलघु गुण प्रकट हुआ है। सिद्धसे पहिले सब संसारी अवस्थाओं में अगुरुलघु गुणोंका विकृत रूप चलता आया था अर्थात् कोई कुलमें बड़ा है, कोई कुलमें छोटा है, लोक-व्यवहारमें कोई ऊँचा माना जाता था, कोई नीचा माना जाता था, ऐसी परम्परा, ऊँचे नीचेका बढ़ाव, चढ़ाव, घटाव रहा करता था। जब तक अरहंत भगवान भी थे तब तक उच्च कुल वाले कहलाते थे। अब सिद्ध प्रभु होने पर वहांका जो समागम है वहां न ऊँचा है कोई, न नीचा है कोई उच्च कुल और नीच कुलका वहां भेद समाप्त हो चुका है। वे तो यों विराज रहे हैं जैसे यहां कोई शुद्ध परमाणु हो जाता है। द्रव्य ही तो है, शुद्ध हो गया। धर्म आदिक द्रव्योंकी तरह अत्यन्त पवित्र वह शुद्ध आत्मा है।

सिद्धोंका अवगाहनत्व गुण— प्रभु सिद्ध भगवानमें अवगाहनत्व गुण प्रकट हो जाता है। जहां एक सिद्ध विराजे हैं वहां अनन्त सिद्ध समाये हुए हैं। यहां हम आप शरीर वाले हैं तो एककी जगह दूसरा नहीं समा पाता है, पर वहां तो एक सिद्धके स्थानमें अनन्त सिद्ध समाये हुए हैं। स्तुतिमें बोला करते हैं—जो एक मांही एक राजै एक माहि अनेकनों।

एक अनेकनकी नहीं संख्या नमो सिद्ध निरञ्जनो ॥ कितना ऊँचा भाव है ? वे सिद्ध भगवान कैसे हैं जो एक मांहि एक राजे — एक सिद्धमें एक सिद्ध है और एक सिद्धमें अनेक सिद्ध हैं। अरे वहां एक अनेककी कुछ संख्या ही नहीं है। तीन बातें कही गई हैं सिद्धके स्वरूपके स्मरणमें। उन तीनों का अर्थ सुनिये।

सिद्ध भगवंतोंके सम्बन्धमें एकमें एक व एकमें अनेक राजनेका रहस्य— एकमें एक राजे अर्थात् जो एक सिद्ध आत्मा है उस सिद्ध आत्मा में वह ही आत्मा है और वह अपने ही गुणपर्यायसे तन्मय है। भले ही उस स्थान पर अनेक सिद्ध विराज रहे हैं परन्तु प्रत्येक सिद्ध प्रभुका ज्ञान उनके जुदा-जुदा है। उनका आनन्द उनका अपने आपमें है, एक प्रभुका परिणमन किसी अन्य प्रभुके परिणमन रूप नहीं बन जाता है। जैसे यहां ही हवा भी है, शब्द भी हैं और भी अनेक पदार्थ हैं, फिर भी वे सब केवल अपने आपमें अपना स्वरूप रखते हैं। ऐसे ही सिद्ध भगवान अपने आपमें अपना ही स्वरूप रखते हैं। इस कारण सिद्ध एकमें एक है, एकमें अनेक नहीं है। द्रव्यका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं। अपने ही अस्तित्वको लिए हुए है। एकमें एक ही है अनेक नहीं है। यह अर्थ हुआ एकमें एक राजेका।

वह प्रभु एकमें अनेक है। जो सिद्ध इस स्थानसे मुक्त हुआ है वह इस स्थानसे फिर ठीक सीधमें लोकके अंतमें विराजमान है और इसी स्थानसे क्रमसे हजारों मनुष्य मुक्त हुए हों तो भी इस ही सीधमें वे ही विराजमान हो जाते हैं। ऐसे अनन्त सिद्ध होते हैं एक-एक स्थान परसे। वे कहां विराज रहे हैं ? वे उसी एक स्थलमें विराज रहे हैं, यों यह बात सिद्ध होती है कि एकमें अनेक हैं। सिद्ध प्रभु एकमें एक हैं, एकमें अनेक हैं।

एक अनेकके विकल्पोंसे विविक्तता— तीसरी बात है 'एक अनेकन की नहि संख्या', उस स्वरूपमें एक और अनेक की संख्या ही नहीं है। यथार्थ ज्ञानी भक्त जब उस ज्ञानपुञ्जका स्मरण कर रहा है उस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका जब ध्यान कर रहा है तो उस ध्यानके समयमें उसके उपयोग की सीमा नहीं बंध सकती कि लो यह है रामचन्द्रका सिद्ध आत्मा, लो यह है आदिनाथका सिद्ध आत्मा। एक और अनेक वहां ही पुकारे जाते हैं जहां वस्तुके आकार प्रकारका ध्यान रहता है। उस गुण पुञ्जरूप सिद्ध स्वरूपके स्मरणके समय आकार प्रकारका ख्याल नहीं किया जाता। होता ही नहीं है वैसा, तो एक शुद्ध ज्ञानपुञ्ज ही दृष्ट होता है। ऐसी स्थितिमें

हम सिद्धको क्या कहें कि वे एक हैं अथवा अनेक हैं। वहां एक अनेकका विकल्प नहीं है। इस प्रकरणमें यह जानियेगा कि सिद्ध भगवानमें अवगाहना गुण प्रकट हुआ है, जिसके प्रसादसे सिद्धके एक उस ही स्थान पर अनेक सिद्ध समा जाते हैं।

सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्य व अव्याबाध गुण— ऐसे ही उनमें सूक्ष्मत्व गुण है। अब अंतरायका क्षय होनेसे अनन्तवीर्य प्रकट होता है। सुख भी एक बाधा है, दुःख भी एक बाधा है। वेदनीयका अभाव होनेसे सुख और दुःख दोनोंका अभाव हो जाता है। यों अष्टमहागुणोंकरि समन्वित परमोत्कृष्ट आत्मा सिद्धपरमेष्ठी कहलाता है। ऐसे सिद्ध प्रभु योगी पुरुषके सदा वन्दनीय रहता है और उनके उपासकजन उनको ही एक परमशरण समझ कर व्यवहारमें उनकी भक्तिमें तत्पर रहते हैं।

परम आत्मा— ये सिद्धपरमेष्ठी परम कहलाते हैं। परमका अर्थ है उत्कृष्ट। जहां उत्कृष्ट लक्ष्मी पायी जाये, उसे परम कहते हैं। परमात्माके उत्कृष्ट लक्ष्मी है, इसलिए वे परम आत्मा कहलाते हैं। अब वह उत्कृष्ट लक्ष्मी क्या है? लक्ष्मी शब्दका अर्थ है ज्ञान। लक्षण, लक्ष्म, लक्ष्मी—इन तीनोंका एक ही मतलब है। आत्माका जो लक्षण है, वही आत्माकी लक्ष्मी कहलाती है। आत्माका लक्षण है चैतन्यस्वरूप, ज्ञानदर्शन—यही हुई लक्ष्मी। जिनके ज्ञानदर्शनका उत्कृष्ट विकास है, उन्हें परम कहते हैं। दूसरी बात यह है कि जो तीन प्रकारके तत्त्व कहे गए हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा—इन तीनों स्वरूपोंमें विशिष्ट गुणोंका आधारभूत यह परमात्मा है। इसलिए सिद्धपरमेष्ठीको परम कहा गया है। सिद्धभगवन्त कैसे हैं? इस स्वरूपकी यादमें और इस व्यवहारचारित्रके प्रकरणमें जो तेरह अंग वाला चारित्र कहा गया है, उस चारित्रकी साधनामें अंतिम परिणाम क्या होता है? उसके फलोपदेशमें यह सिद्धपरमेष्ठीका स्वरूप कहा जा रहा है।

सर्वथा निर्ग्रन्थ नाथ— इनके अष्टकर्मोंका बंधन नष्ट हो गया है। इनमें न कर्मोंके भावसे उत्पन्न हुए, न महागुणोंकी सम्पन्नता प्रकट हुई है, यह उपेयतत्त्व है, तीनों तत्त्वोंमें विशिष्ट गुणोंका आधार है। उन गुणोंका उत्कृष्ट विकास यहां प्रकट हुआ है—ऐसे ये सिद्धपरमेष्ठी हैं। यहां तक इन विशेषणोंसे उपादेयतत्त्वकी झलक हो रही है कि यह कर्मबन्धन याने भावकर्मबन्धन, द्रव्यकर्मबंधन और नोकर्मबन्धन इन जीवोंको दुःखोंका निमित्तभूत है अथवा दुःखस्वरूप है, इससे रहित होना चाहिए। जैसे कि सिद्धपरमेष्ठी सर्वथा निर्ग्रंथ हो गए हैं।

शक्ति व्यक्तिका समन्वय— ये अष्टमहागुणोंकर सम्बन्धित है। जो गुण वहां प्रकट हुए हैं, उन गुणोंका स्वभाव हम आपमें अभीसे है। हम भी यदि कुछ हिकमतसे चलें, व्यवहारचारित्रका आश्रय और अंतरंगमें निश्चयचारित्रका आलम्बन रखते हुए उपयोग की यात्रा शिवरूप बनायें तो यह शिवस्वरूप प्राप्त किया जा सकता है। उत्कृष्ट ज्ञानविकासका स्मरण किया है। यह ज्ञानविकास कुछ नया कहींसे लाना नहीं है, यह तो ज्ञान-स्वभावी ही है, किंतु भ्रमवश, परकी ओरके आकर्षणवश जो आकुलताएँ बनी हैं, उनका अभाव हो तो वह परमात्मत्व प्रकट हो जाता है।

सिद्धप्रभुका अवस्थान— सिद्धभगवान कहां विराज रहे हैं, कब तक रहते हैं ? ऐसी बाह्यस्थिति भी अब बतलाई जा रही है। यह प्रभु लोक के अग्रभाग पर स्थित है। जहां तक यह लोक है, वहां तक यह प्रभु पहुं-चता है। आगे धर्मास्तिकाय भाव होनेसे और इन सिद्धप्रभुके कोई वांछा तो है नहीं कि आगे पहुंचूं। केवल सहजनिमित्तनैमित्तिक योगसे लोकके अग्रभाग पर स्थित हो जाते हैं। लौकिक जन जब कभी परमात्माका स्म-रण करते हैं, चाहे किसी भी नामसे करें, पर उनकी दृष्टि ऊपरकी ओर ही जाती है। जब वे भगवानको पुकारते हैं—हे प्रभु ! हे भगवान ! हे परमेश्वर ! हे अल्ला ! या जिस किसी भी नामसे पुकारते हैं, उनकी दृष्टि ऊपरकी ओर जाती है, ऊपर मुख करके बोला करते हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान सर्वत्र व्यापक हैं, वे भी कभी नीची निगाह करके भगवानको नहीं पुकारते। यह प्रकृतिकता सब मानवोंके चित्तमें बसी हुई है कि वे ऊपर ही देखकर प्रभुको पुकारते हैं। यह प्रभु लोकके अग्रभाग पर स्थित है। तीन भुवनका जो शिखर अर्थात् लोकका अंतिम स्थान है, उससे आगे गतिके हेतुका अभाव होनेसे वे लोकके अग्रभाग पर स्थित हैं।

नित्य प्रकाश— यह प्रभु नित्य है। जो पर्याय प्रभुने पायी है, जो शुद्ध निर्दोष स्थिति इनकी हुई है, उस पर्यायसे यह कभी न गिरेगा अर्थात् उनमें ऐसा ही शुद्ध परिणमन प्रतिसमय निरंतर सदृश चलता ही रहेगा। इस कारण यह सिद्धभगवान नित्य कहा गया है—ऐसा यह सिद्धपरमेष्ठी पुरुष है। हम आपको प्रकाश यहां मिलेगा, सत्य-संतोष यहां प्राप्त होगा।

बहिर्मुखतामें असंतोषका विस्तार— भैया ! अपने आपसे बाहर इन इंद्रियोंका मुख करके जो कुछ ज्ञान किया करते हैं, उस बोधमें संतोष नहीं मिल सकता है। मान लो, कमा लिया कुछ तो क्या पावोगे उसके फल में ? जोड़कर रखा जाएगा दूसरोंके लिए ही तो। वे दूसरे सब उतने ही

भिन्न हैं, जितने कि लौकिक कल्पनामें गैर भिन्न हैं। इन व्यामोही जीवों ने "सब जीवोंके कर्म अपने-अपने बने हुए हैं और अपने-अपने उदयके अनुसार वे सुख दुःख, जीवन-मरण पाते हैं"—इस श्रद्धाको भी खत्म कर दिया है, इस तृष्णाके वश होकर अपने आपके स्वरूपकी याद भी खत्म कर डाली। कितना अज्ञान अंधकार है? अपने आपको संसारगर्तसे बचानेकी करुणा कीजिए। यहां कौन शरण है? क्या सार है? किसी भी परद्रव्यसे इस आत्मामें कभी संतोष आनेको नहीं है। यदि परद्रव्योंके कारण संतोष हो सकता होता तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती ६ खण्डकी विभूति क्यों त्यागते? भव-भवमें अनेक वैभव पाये, अनेक बार राज्यपद पाए, लेकिन आज थोड़ेसे पैसे पर इतनी आसक्ति होती है, यह तृष्णा नहीं त्यागी जा सकती है। अरे! इस थोड़ेसे वैभवको, तृष्णाको त्याग देनेमें कौनसा अहित होता है? यदि इस धनवैभवकी तृष्णाको त्याग दो तो सत्य सुख प्राप्त हो सकता है। यथार्थज्ञान तो रखिये।

आदर्श एवं प्रतिच्छन्द— ये प्रभु जो परिणमन प्राप्त किए हुए हैं, उससे कभी न चिगेंगे। यों ये प्रभु नित्य हैं। ऐसे भगवान सिद्धपरमेष्ठी वे सबके वंदनके योग्य हैं, परमादर्श ये ही हैं, हमें क्या बनना है? ऐसा प्रश्न होने पर अंगुली एक सिद्धपरमेष्ठीकी ओर उठनी चाहिए कि मुझे तो सिद्धपरमेष्ठी बनना है। यह सिद्धपरमेष्ठी मेरे हितोपदेशके लिए प्रतिध्वनि की तरह गूंजकी तरह हैं। सिद्धपरमेष्ठीको तुम बोलोगे तो वह बोल तुम्हारे पास ही वापिस आये। जैसे किसी पुराने मिट्टीके मठके अन्दर कुछ शब्द बोलोगे तो उस मठको आपके उन शब्दोंको क्या करना है? आपके वे ही शब्द झाईके रूपमें आपके ही कानमें वापिस आ जायेंगे—ऐसे ही सिद्धभगवंत हैं। जो-कुछ आप उन्हें कहेंगे, उन शब्दोंका सिद्धभगवंतको क्या करना है? सो वे तो लौटकर आपके ही आत्मामें गूंज जायेंगे, आपके ही ज्ञानमें आयेंगे अथवा आप जो विचार कर बोलोगे, सो आपमें ही रहस्य उतरेगा, आपको ही लाभ होगा। कितना महादानी है यह सिद्ध-प्रभु? इसके लिए जो कुछ हम कहते हैं, जितना स्तवन करते हैं, जितना गुणोंका गान करते हैं, वह साराका सारा गुणगान वे प्रभु हमें ही सौंप देते हैं। वे प्रभु इतने परमउपेक्षक हैं।

सिद्धस्मरणका बल— भैया! इन प्रभुकी शरण लिए बिना हम शिवपथमें आगे नहीं पहुंच सकते। यदि तुमको मुक्तिकामिनीकी चाह है, मुक्तिकन्यासे करग्रहणका भाव है तो यह काम बहुत कठिन है। भैया! इस कारण कठिन काममें सफलता पानेके लिए मजबूत बराती संगमें

चाहिएं। जैसे कोई लड़की वाला बड़ा तेज हो, कठिन हो, किसीका उसमें वश न चलता हो, जरा देरमें मुकर जाए, विमुख हो जाए तो ऐसी बारात में सफलता पानेके लिए छांट-छांटकर मजबूत पहलवान बराती ले जाते हैं, नहीं तो बिना विवाहके ही बारात लौट आएगी। कठिन काम है। ऐसे ही मुक्तिकन्याके करग्रहणकी इच्छा है तो ऐसी बारात सजाकर ले जावो, जिसमें ठोस, मजबूत बाराती संगमें हों। ढूंढो ऐसे बाराती, पर एक-दो बारातियोंसे काम न बनेगा। बड़ा कठिन काम है मुक्तिकन्या से करग्रहण करना। उसके लिए अनेक बराती चाहिए। ढूंढो खोजो, अहो मिल गए, वे बराती, ये हैं अनन्त सिद्ध। इन अनन्त सिद्धोंको अपने उपयोगमें विराजमान करें, इनको बराती बनावें, फिर उस मुक्तिकी चाह करना स्वीकार करें तो उसमें सफलता मिलेगी। ऐसे ये भगवंत सिद्ध परमेष्ठी हम सबके वंदनीय हैं।

त्रिलोकचूड़ामणि— ये सिद्ध परमेष्ठी ज्ञानघन हैं, ठोस ज्ञानसे विचलित नहीं हो सकते; इनके निरन्तर सर्वकालोंमें निरन्तर सर्व अर्थविषयक परिज्ञान रहता है। ये त्रिलोकचूड़ामणि हैं। जैसे एक चूड़ामणि नामका आभूषण सिरके ऊपर रखा जाता है उत्तम अंगके ऊपर जो आभूषण रखा जाता है वह है चूड़ामणि। ये तीन लोक पुरुषके आकारके हैं। इसका नीचेका सारा अंग दुःखरूप क्षेत्रसे व्याप्त है, नरकादिक रचनाएँ और इसका मध्य अंग नाभिका अंग कुछ थोड़ा-थोड़ा दुःखसे कम भरा क्षेत्र है, इससे ऊपरका क्षेत्र दुःखसे कुछ परे है, किन्तु इसका जो उत्तम अंग है अर्थात् ग्रीवाके ऊपरका जो अंग है उस अंगके ऊपर जो विराज रहा हो वह ही चूड़ामणि हो गया।

सिद्धोंके प्रतिसमय अनन्त आनन्दका अनुभवन— वे सिद्ध प्रभु क्या करते हैं? उनका समय कैसे गुजरता है, इनके शरीर नहीं है, कुटुम्ब परिवार नहीं है, धन वैभव नहीं है, कोई बात करने के लिए भी नहीं है। बिलकुल शरीररहित हैं, कौन बात करे, किससे बात करें, ऐसी स्थितिमें सिद्ध परमेष्ठीके दिन कैसे गुजरते होंगे, ऐसी कदाचित् किन्हीं मनचलोंको शंका भी हो सकती है। वे सिद्ध प्रभु समस्त ज्ञेयके ज्ञायक हैं और इसी कारण निज रस से लीन हैं। जिनको सर्वांगज्ञान नहीं होता है वे चलित हो जाया करते हैं। जिन्हें तीन लोक तीन कालकी सब यथार्थ बातें एक साथ विज्ञप्त हो रही हैं उन जीवोंमें बाधा किसी कारणसे आये तो बतावो? कुछ जाननेकी इच्छा है और इसे जाना, उसे जाना, इससे आनन्दमें बाधा आती है। यह तो क्या करता है? कोई चीज खानेको

सामने रखी है, जब तक हम उसके रसज्ञानका अनुभवन नहीं कर पाते हैं तब तक तड़फते हैं। हां जितने भी हमारे तड़फन हैं वे ज्ञानकी कमीके कारण तड़फन हैं। जब मौलिक त्रुटि होती है तो रागद्वेष मोह ये सबके सब सवार हो जाते हैं। यद्यपि मोह, राग, द्वेष ये दुःखोंकी खान हैं तो भी इन विभावोंकी दाल तब गल पाती है जब इस प्रभुमें ज्ञानकी न्यूनताकी कमीकी त्रुटि देख पाते हैं। वे समस्त ज्ञेयके ज्ञायक हैं, अतएव अपने आनन्द रसमें लीन हैं। वे अपने स्वरूपमें ही वास करते हैं। यों यह प्रभु परे है। उनको किसी भी शब्दमें बांधा जाय तो वह भी एक पक्ष बन जाता है। अच्छा जरा विचार कर लो और कुछ शब्दों द्वारा सिद्धप्रभु का गुणगान करलो। ये प्रभु जिन कहलाते हैं। जिन्होंने रागद्वेषादिक शत्रुवोंको जीत लिया है वे जिन हैं। लो कह तो रहे हैं निष्पक्ष प्रभुकास्वरूप, पर ज्यों ही शब्द द्वारा बांध दिया त्यों ही एक जिनधर्म नामक पक्ष हो गया। यह प्रभु शिव है कल्याणमय है। सर्व प्रदेशोंमें, सर्वगुणोंमें एक आनन्द ही आनन्दका प्रकाश है। इन्हें शिव कहेंगे, शब्दसे बांधेंगे तो वह भी एक पक्ष प्रसिद्ध कर दिया गया। यह प्रभु निरन्तर अपनी सृष्टियों को रचता चला जाता है; इसकी यह रचना ज्ञान द्वारा भी निरन्तर होती रहती है। हम आपका उपयोग प्रतिसमय नई-नई जानकारी नहीं कर सकता और नया नया अनुभवन नहीं कर सकता। अन्तमुहूर्त तक हमारे उपयोगकी धारा बहती है तब कोई वस्तु हमें ज्ञानमें गृहीत होती है। किन्तु सिद्ध परमेष्ठी का यह ज्ञान परिणमन इतना निर्मल है कि वे प्रतिसमय अपना पूर्ण ज्ञान करते चले जाते हैं। यह ब्रह्मा है, ऐसी शुद्ध सृष्टिपर इसका पूर्ण अधिकार है। अरे शब्दोंसे बांधा तो वह भी एक पक्ष बन जाता है।

शब्दोंका अबन्धन— सिद्ध प्रभुका ज्ञान समस्त लोकमें व्यापक है और इतना ही नहीं समस्त अलोकमें भी व्यापक है। अरहंत प्रभुकी स्थितिमें जब इसके केवलीसमुद्घात हुआ था और लोकपूरण अवस्था हुई थी, उस समय ये प्रदेशोंसे भी व्यापक थे, किन्तु लोकसे बाहर एक प्रदेश भी नहीं जा सके थे। लोकपूरण समुद्घातमें परमात्माके प्रदेश व्यापक बनते हैं और वे लोकमें ही व्यापक रह सकते हैं, लोकके बाहर नहीं, किन्तु परमात्माका ज्ञानलोककी सीमाको भी तोड़कर अनन्त अलोक में पहुंच गया। इतना व्यापक यह ज्ञानपुञ्ज है। यह विष्णु है। अहो इस ज्ञानपुञ्जकी महिमाको जब शब्दसे बांध दिया तो वह भी एक पक्ष बन गया। यह सिद्ध भगवंत स्वयं पापोंसे सर्वथा दूर हैं और इनका जो स्मरण करते हैं, अभेद-भावसे वंदन करते हैं वे भी समस्त पापोंसे दूर हो जाते

हैं। अहो यह ऐसा अनुपम हरि है, इसकी इस विशेषताको जहां शब्दसे बांधा वहां ही लोकमें पक्ष बन गया।

सिद्धशुद्धस्वरूपसंदर्शनसंदेश— भैया ! तुम तो शब्दोंके जालसे परे होकर केवल उस सिद्ध प्रसिद्ध विशुद्ध स्वरूपको ही निहारते रहो, शब्द जालका फँसाव मत बनावो। अब अधिक वचन बोलना बेकार है। उस सिद्धका प्रसाद सिद्धिका सर्व उपाय है। ऐसा निर्णय करके इस परम आदर्शरूप सिद्ध भगवानके गुणोंमें दृष्टि बनावो जिससे स्वभाव तक पहुंच हो और अपने स्वभावमें स्थिति हो।

सकलकर्मविनाश— भगवान सिद्ध परमेष्ठीके अष्टकर्मोंका विनाश हुआ है। यद्यपि विनाश शब्द सुनकर कुछ चौंक यों हो सकती है कि जो सत् पदार्थ है उसका तो कभी विनाश होता ही नहीं है, फिर इन कर्मोंका विनाश कैसे हो गया ? तो कर्म पर्याय जिसमें प्रकट हुई है ऐसे परमाणुवोंके स्कंधोंके स्पर्शकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु कार्माणवर्गणामें जो कर्मत्व है उसका अभाव हो गया है। इसका ही मतलब है कि कर्मोंका विनाश हो गया है यों ही उनके शरीरका भी विनाश है तो उसका भी यही अर्थ है कि जो शरीरके परमाणु स्कंध हैं वे अब शरीररूप नहीं रहे, बिखर करके कपूरकी तरह उड़ करके फैल गए। फिर उनका आगे कुछ भी हाल हो। आत्माका सम्बन्ध भी शरीरसे नहीं रहा, भाव कर्मके नाशकी यह बात है कि भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। जैसे कार्माणवर्गणा द्रव्य है, शरीर वर्गणा द्रव्य हैं ऐसे भावकर्म कोई द्रव्य नहीं हैं। वे तो जीवके औपाधिक अवस्थाके विभाव हैं। जब जीवमें स्वभावपरिणमन प्रकट होता है तो विभावपरिणमन विलीन हो जाता है।

सकल कर्मविनाशका साधन— इन सब तीनों प्रकारके कर्मोंके विनाशका कारण केवल एक ही अनुभव है—सर्व विशुद्ध ज्ञानमात्र निज तत्त्वका अनुभव होना। यही कर्म नोकर्म और विभावके विनाशका कारण है। जैसे किसी भी बड़े ढेरके विनाशका कारण जो अग्नि होती है उस अग्निका मूल कण मात्र है। जैसे इतनी बड़ी रसोईमें कितना ही कोयला जल जाता है आगसे बहुत काम लेने पर। उस आगकी उत्पत्तिमें मूल विकासमें थोड़े कणने काम दिया, माचिस की सींक समझो या चकमकके अग्नि कण समझो या किसी दूसरी जगहसे आगके कण मांगकर लाये तो उसका थोड़ा पुञ्ज समझो। मूलमें थोड़ा ही अग्नि कण होता है, बादमें उसका विस्तार होकर बहुत बड़ा प्रसार हो जाता है ऐसे ही इस मोक्षमार्गमें मूल अनुभव एक विशुद्ध सहज ज्ञायकस्वभावका अनुभव है, उस

आलम्बनके बाद वह ऐसा दृढ़ हो जाता है, ऐसा विकसित होता आता है कि अंतमें वह केवलज्ञानका रूप रख लेता है।

भगवंतोंका आत्मक्षेत्र— भगवंत सिद्ध इस समय उतने आकारमें विराजमान हैं जितने आकार वाले शरीरको छोड़कर वे मुक्त हुए हैं। यद्यपि आत्मामें आकार नहीं होता फिर भी जो कुछ भी द्रव्य है उस द्रव्य के निजी प्रदेश अवश्य होते हैं, आत्माके उन प्रदेशोंका विस्तार कितना है जिन प्रदेशोंमें समस्त शक्ति समूह मौजूद है अथवा शक्तिका पुंज ही प्रदेशात्मकता को धारण किए हुए है, वह कितना है ? ऐसा जाननेके लिए जब इच्छा हो तब उसे यों ही कहना होगा कि जिस शरीरसे वे छूटे हैं उस शरीरके परिणाम उनका आकार होता है। प्रश्न— वे शरीरसे कम या अधिक क्यों नहीं हो जाते हैं ? उत्तर— प्रदेशके विस्तारका और संकोच का कारण आत्माका सत्त्व नहीं है, आत्माका स्वभाव नहीं है किन्तु विशिष्ट जाति की कर्मप्रकृतियोंका उदय है। अब चूंकि नामकर्म प्रकृतियां रही नहीं, अन्य प्रकृतियां रही नहीं जो जिस देहको छोड़कर वे मुक्त हो रहे हैं उस देहके आकारमें वे आत्मा हैं। अब वे आत्मा बढ़ें या घटें ? न कोई बढ़नेका कारण है और न कोई घटनेका कारण है, क्योंकि बढ़ने और घटनेका कारण प्रकृतियोंका उदय था। तो वृद्धि और हानिका हेतु नहीं होनेसे वे सिद्ध भगवंत जिस देहसे मुक्त हुए हैं उसके आकार प्रमाण वहां रहते हैं।

आत्मक्षेत्रका शरीरपरिणामसे न्यून परिमाण— सिद्धप्रमाण चरम-देह कुछ न्यून बताया गया है, उस न्यूनका अर्थ यह है कि अब भी हमारे आपके शरीरमें जो केश बढ़ते हैं या नख निकलते हैं या मक्खीके परकी तरह पतली त्वचा ऊपर है उतने स्थानमें जीवके प्रदेश अब भी नहीं हैं। तभी तो नाई मशीनसे बाल निकाल देता है, जरा भी दुःख नहीं होता है और बालके उखाड़नेमें दुःख होता है क्योंकि बालके उखाड़नेमें तो भीतर का सम्बन्ध है और बालोंको बताया है कि खूनका मल है, नखोंको बताया है कि हड्डीका मल है। कैसे फोड़कर निकला है यह हड्डीका मल ? जो बाहर निकले हैं उनमें जीवके प्रदेश नहीं हैं, तभी तो नख काट लेते हैं तो दुःख नहीं होता है। यों ही कभी चलते हुएमें किवाड़की कहीं हल्कीसी खरोंच लग जाय जिससे केवल मक्खीके पर बराबर पतली त्वचा ही घिसे तो उसमें भी वेदना नहीं होती है। तो जितनी जगहमें कुछ भी प्रदेश नहीं हैं, अब भी उतना न्यून है। हमारे आत्मप्रदेश इस दिख जाने वाले शरीर से अब भी कुछ कम हैं। जितने हैं उतने ही परिमाण भगवान सिद्धके

प्रदेशका आकार रहता है।

सिद्ध परमेष्ठीका आदर्श स्वरूप— भैया ! सब तरहसे सिद्ध परमेष्ठी को पहिचान कर प्रयोजनभूत तत्त्व पहिचानो तो उनका गुणविकास है स्वभाव है। वे कितने में फैले हुए हैं, इतना ज्ञान करने का असर हमारे अध्यात्ममें नहीं पड़ता है, वे लोकके अग्र भाग पर स्थित हैं, इतना जानने में हमारे अध्यात्मका आंतरिक प्रभाव नहीं पड़ता है। जितने चाहे वे सब परिज्ञान सहायक हैं, किन्तु सिद्ध भगवान कैसे विकास वाले हैं ऐसा उनके गुण और स्वभावके उपयोग से ही परिज्ञात होता है। प्रभुके स्वभावका परिज्ञान होनेसे अपने आपके स्वरूपका भान होता है। सर्वोत्कृष्ट सर्वथा चरम विकास वाले परमेष्ठियोंका सिद्ध नाम क्यों है ? इसका उत्तर सिद्ध शब्दसे ही मिल जाता है।

सिद्ध शब्दका प्रथम व द्वितीय अर्थ— सिद्धका अर्थ है— "सितं दग्धं कर्मईंधनं येन सः सिद्धः।" जिसने कर्म ईंधनको जला डाला है उसे सिद्ध कहते हैं। जहां आठों कर्मोंका अभाव हो गया उसे सिद्ध कहते हैं। अथवा सिद्ध शब्द षिधु धातुसे बना है। "सेधतिष्म इति सिद्धः।" जो पुनः लौटकर नहीं आ सकते इस तरह जो चले गये उन्हें सिद्ध कहते हैं। जैसे अपने व्यवहारमें जाने चलने के अनेक शब्द हैं, वह गया, वह भगा, वह चला, वह खसका, कितने ही शब्द हैं। तो उन सब शब्दोंमें जुदा जुदा भाव ध्वनित होता है। इसी तरह इस 'षिधु धातुसे यह भाव ध्वनित होता है कि जो ऐसा चला गया कि फिर लौटकर न आये उसे सिद्ध कहते हैं। भगवान चले गए, अब वे लौटकर न आयेंगे।

सिद्ध का तृतीय अर्थ— अथवा षिध धातु सिद्धि अर्थमें है। 'सेधति सिद्धयतिष्म' अर्थात् 'निष्ठितार्थः अभवत् इति सिद्धः।' जिसका प्रयोजन पूर्ण हो चुका है अर्थात् कृतकृत्य होकर जिसने करने योग्य काम सब कर लिया है उसे सिद्ध कहते हैं। अब बतलावो सिद्ध प्रभुको करनेके लिए क्या है ? पूर्ण ज्ञानका विकास है, पूर्ण आनन्दका प्रसार है, करनेको कुछ रहा है क्या अब ? वास्तवमें यहां भी वाहरमें हम आपके भी करने लायक कुछ नहीं है। क्या करें ? मकान बनाया, प्रथम तो बना ही नहीं सकते। मान लो वह बन गया तो उस मकानके बन जाने से आत्माको कौन सी सिद्धि हो गयी ? वह मकान बना और मरकर चले गये पचास, सौ राजू दूर कहीं पैदा हो गये, किसी अन्य भवमें पैदा हो गए तो अब क्या रहा ? यहां का कुछ भी किस काम आया परभवमें तो काम क्या आये इस भवमें भी यह पुद्गल प्रसंग काम नहीं आता है।

सिद्धका चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ व सप्तम अर्थ— सिद्धका एक अर्थ यह भी है 'सेधतिस्म शास्ता अभवत्' जो हितोपदेशी हुए थे उसे सिद्ध कहते हैं। जितने भी सिद्ध परमेष्ठी हैं वे सिद्धसे पहिले अरहंत अवस्थामें थे। कोई भी साधु सीधा सिद्ध नहीं हो सकता। अरहंत अवस्थामें वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेश करते थे। तो सिद्ध शब्दसे वर्तमान और पूर्वकी विशेषताएँ सब विदित होती चली जा रही हैं। अथवा एक सिध धातु है वह मंगल अर्थमें आती है। जिसका अर्थ यह निकलता है— जिसने मंगलरूप का अनुभव किया था उन्हें सिद्ध कहते हैं। वह मंगलस्वरूप क्या है ? शुद्ध आनन्दस्वरूप। जीवोंका कल्याण हो, जीवोंका मंगल हो, इसका भाव क्या है कि जीव शांति, संतोष, आनन्दपूर्वक रहें। तो मंगल कहो, कल्याण कहो, आनन्द कहो, जो आनन्दरूपताका अनुभव कर रहे हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं अथवा सिद्ध शब्दका पूर्ण अर्थ है जो सदाके लिए शुद्ध हो चुके हैं अर्थात् अनन्त काल तकके लिए जो पूर्ण हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं अथवा सिद्धका अर्थ प्रसिद्ध है—भव्य जीवोंके द्वारा जो प्रसिद्ध हुए हैं, भव्य पुरुषोंके हृदयमें जिनके गुण उपलब्ध हैं ऐसे निर्मल आत्माको सिद्ध कहते हैं। जीवोंकी उत्कृष्ट, शुद्ध और हितरूप अवस्था यह ही सिद्ध अवस्था है।

सिद्ध वन्दना— सिद्ध प्रभु ज्ञानपुञ्ज हैं, उनके शरीर नहीं है, अन्य कोई समागम नहीं है, मात्र ज्ञानानन्दका शुद्ध विकास है। बाहरी किसी भी पदार्थका वहां सम्बन्ध नहीं हैं। ये प्रभु तीन लोकके शिखर पर विराजमान् हैं। अंतिम पाये हुए शरीरके आकार उनके प्रदेश हैं, नित्य शुद्ध हैं, अनन्त हैं, सर्व प्रकारकी बाधाओंसे रहित हैं। ऐसे सिद्ध भगवंतोंको मैं सिद्धिके अर्थ नमस्कार करता हूं। इस प्रकार सिद्ध परमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन करके अब आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप कहते हैं।

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥

आचारकुशल आचार्यपरमेष्ठी— जो पंच आचारोंसे परिपूर्ण हैं, पंचेन्द्रियरूपी हाथीके मदको दलने वाले हैं, धीर और गुणगम्भीर हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। आचार्य परमेष्ठीका साधारणतया यह लक्षण है कि जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन ५ आचारोंके पूर्णतया पालनेमें पूर्ण कुशल हैं और अन्य साधुजनोंको इन पंच आचारोंका पालन कराते हैं उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। आचार्य परमेष्ठीके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि उनके ३६ मूल गुण होते

हैं— ५ आचार, ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, १२ प्रकारके तप और ६ आवश्यक अथवा महाव्रतसमितिके स्थानमें १० धर्म लें, यों ३६ उनके मूल गुण बताये हैं, किन्तु एक दृष्टिसे देखो तो जिस कलाके कारण वे आचार्य कहलाते हैं उस दृष्टिसे इनके ८ महागुण हैं।

आचार्यमें ८ महागुणोंकी विशेषता— ३६ प्रकारके गुण वे तो हैं ही साधुके नाते। जितने साधु हैं सभी साधुवोंमें ये ३६ गुण होने चाहियें। क्या उन साधुवोंको तप न करना चाहिए, व्रत न करना चाहिए? करना चाहिए, तो वे सब एक सर्व श्रमणोंमें साधारण हो गए। हां इतनी विशेषता है कि साधुवोंके चारित्रसे आचार्यके चारित्रमें कुछ दृढ़ता है और वे दूसरों से पालन भी कराते हैं किन्तु दृढ़ता भी किन्हीं-किन्हीं साधुवोंमें आचार्यों से भी अधिक होती है तप आदिकके पालनेमें। खैर, ये ३६ मूलगुण हैं जिनका प्रसार अन्य साधुजनोंमें करते हैं उनका प्रसार जब आचार्य महाराज भली प्रकार करें तब ही तो करा सकते हैं। इस कारण ३६ मूलगुण बताये हैं, किन्तु आचार्यत्व जिस कारणसे होता है उस दृष्टिसे ये आठों भी गुण सुनिये। पहिला गुण है आचारवत्व, दूसरा आधारत्त्व, तीसरा व्यवहारवत्व, चौथा प्रकारत्व, पांचवां गुण है आयापायविदर्शित्व, छठवां गुण है अपरिश्रावित्व, सातवां गुण है अवकीर्णकत्व, आठवां गुण है निर्यापकत्व। ये बातें जरा प्रसिद्ध नहीं हैं। इस कारण सुननेमें ऐसा लगता होगा कि यह कोई नई बात बतायी जा रही है। आचार्यके ये ८ महागुण होते हैं, यह शास्त्रयुक्त है और इन ८ विशेषतावोंके कारण वे आचार्य कहलाते हैं। इन गुणोंसे युक्त आत्माके आचार्यत्व होता है।

आचार्यका आचारवत्त्व गुण— ५ प्रकारके आचारोंका स्वयं निर्दोष पालन करना, अन्य साधुवोंको पालन कराना, यह है आचार्यत्व। जितनी ३६ प्रकारकी बातें बतायी है वे सब एक दो गुणोंमें आ गयीं। चारित्राचार में ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति आ गयी, तपाचारमें १२ प्रकारका तप आ गया। ५ आचारोंमें ५ आचार हैं ही और आवश्यक भी उन्हींमें गर्भित हो गए। यों एक आचारवत्त्व गुणने सबको प्रतिष्ठित कर दिया। अब और विशेषता सुनिये।

आचार्यका आधारवत्त्व गुण— दूसरा गुण है आधारवत्व। आचारांग आदि श्रुतका विशेष धारक हो उसे कहते हैं आधारतत्त्व। जैसे आपने एषणासमितिमें और अन्य समितियोंमें भी साधुका स्वरूप सुना था और उससे यह बात प्रकट की होगी अपने आपमें कि वास्तवमें साधु कैसा होना चाहिए? अब आप यह बात देखें—वास्तवमें आचार्य कैसा

होना चाहिए ? जिसके अन्दर ये ८ महागुण प्रकट हों वे आचार्य कहलाते हैं। दूसरा गुण है श्रुत की विशेषता। कुछ तो श्रुतकी विशेषता हो। जो उपाध्यायों पर भी कण्ट्रोल करते हैं ऐसे आचार्यका कैसा ज्ञान होना चाहिए ? कुछ कल्पना तो करिये।

आचार्यका व्यवहारित्व गुण— तीसरा गुण है आचार्यका व्यवहारित्व। प्रायश्चित शास्त्रकी विधि जो जानते हों और उसके अनुसार व अपने ज्ञानबलके अनुसार दूसरोंको यथार्थ प्रायश्चित्त देनेकी जिनमें क्षमता हो वे होते हैं व्यवहारी आचार्य। प्रायश्चित्तका देना बहुत बड़ा काम है। शिष्यकी शक्ति, शिष्यमें अंतरंग कलुषता और द्रव्य, क्षेत्र, काल का वातावरण सबका विचार कर ऐसा प्रायश्चित्त देना जिससे कि आत्म शुद्धि बढ़े वह आगे न उद्दण्डता कर सके और न संक्लेश कर सके। ऐसा प्रायश्चित देनेकी सामर्थ्य जिसमें हो उसे कहते हैं व्यवहारवान्।

आलोचनाकी पद्धति— कैसे आलोचना की जाती है, कैसे प्रायश्चित्त दिया जाता है ? इसकी पूरी कला तो योग्य शिष्य और योग्य आचार्यमें होती है। पर साधारणतया यों जानें कि शिष्य अन्यम वातावरणमें एकांत स्थानमें शुद्ध स्थानमें जिसके आसपास अपवित्र चीज न हो, अत्यन्त कुंठित न हो ऐसे शुद्ध स्थानमें गुरुसे शिष्य अपनी आलोचना करता है, उसे सुन लेता है, आचार्य पर उसपर प्रथम विशेष ध्यान नहीं देता। ध्यान मानों इस लिये नहीं दिया कि शिष्य को यह ज्ञात रहे कि अभी हमारे गुरू महाराजने हमारे प्रतिवेदनको भली प्रकार सुना नहीं है। आप देखते जाना कितना रहस्य है और इसमें कितना राजसाही तेज प्रकट है आचार्यमें ? फिर समय पाकर दूसरी बार आलोचना करता है। कोई दूसरी वारको ही तो आलोचना समझे तो आचार्य सुन लेते हैं और उसका विधान दे देते हैं और न समझे तो वे फिर उपेक्षा कर जाते हैं, वह फिर तीसरी बार आलोचना करता है और उस तीसरी बारकी आलोचनामें वह इतने प्रतापके साथ सुनता है कि जैसे सिंहके सामने मांस खाया हुआ स्याल हो तो वह स्याल मांस को उगल देता है। ऐसा ही प्रताप आचार्य महाराजका होता है कि शिष्य ने जो दोष छिपा रक्खा है आचार्यके सामने आलोचना करते हुएमें, सब प्रकट कर देता है।

शुद्ध आलोचनाका कारण— प्रथम तो यह बात है कि वह शिष्य स्वयं कल्याणार्थी है। वह चाहता है कि मैं दोषोंका कोई भी भार न छुपाऊं क्योंकि फिर मुझे मोक्षमार्ग में बाधा रहेगी।

उसे तो कल्याण चाहिए। सो शिष्य ही कोई बात छिपाता नहीं है,

पर कदाचित् छिपाये तो आचार्यको इतना प्रताप है कि वह छुपा नहीं पाता है, फिर आचार्य सोचकर उसे प्रायश्चित्त देते हैं। कौन शिष्य कैसा है, किस योग्य है, कैसा ज्ञानबल है, किस ओर उसका झुकाव है? सब बात आचार्यको यथार्थ विदित रहती हैं और उसके अनुसार वे प्रायश्चित्त देते हैं। वहां शिष्यजन यह शंका नहीं करते कि यह दोष तो इसने किया है, मुझे तो आचार्य महाराज ने बड़ा दण्ड दिया। यह दोष इसने किया, इसने बहुत ही कम प्रायश्चित्त किया। जो आचार्य प्रायश्चित देते हैं उसे शिष्य प्रमाणभूत मानते हैं।

योग्यतानुसार प्रायश्चित्तप्रदान— एक लौकिक कहानी है कि एक बार तीन चोरोंने चोरी की। उनमें एक बड़ा सज्जन था और पहिला ही दिन था चोरी करनेका। उस दिन किसी कारणसे उन चोरोंके संगमें हो गया था, तो कुछ दिन मामला सुननेके बाद न्यायाधीश ने उन तीनों चोरों को तीन तरहके दण्ड दिये। एक को कहा कि तुमने बहुत बुरा काम किया तुमको ऐसा न करना चाहिए था, ऐसा कहकर छोड़ दिया। एक चोरको एक सालकी सजा दे दी। एक चोरको यह दण्ड दिया कि इसका मुँह काला करके गधे पर बैठालकर नगरमें घुमाया जाय। लोग सुनकर सोचने लगे कि एक ही तरहकी चोरी एक ही तरहका अपराध और तीन तरहके दण्ड क्यों दिये? अब दण्डके बाद समझमें आयेगा। जिसको यों ही छोड़ दिया गया यह कहकर कि धिक्कार है तुमने बुरा काम किया, सो उसके इतनी लाज लगी कि वह घरमें आकर कोठरीमें छुपकर हवा बंदमें पड़ा रहा जिससे दम घुटकर मर गया। एक चोर तो जेलमें है ही, और उसका किस्सा सुनो जिसका मुँह काला करके गधेपर बैठाल कर नगरमें घुमाया जा रहा था। वह चला जा रहा है मजेमें। जब उसका घर पड़ा सामने तो स्त्री भी देखती है। सभी लोग देखना चाहते हैं। विचित्र तो ढंग है, वह पुरुष गधे पर बैठा हुआ ही अपनी स्त्रीसे चिल्लाकर कहता है कि अरे पानी गरम करके रखना, थोड़ा और घूमनेके लिए नगर रह गया है। देख लो उसका काला मुँह करके गधे पर बैठाल कर घुमाना भी कम दण्ड है तो आचार्य महाराज सब शिष्योंकी बात परखते हैं—किसको किस तरहका प्रायश्चित्त देना चाहिए? इतनी योग्यता जिसमें पड़ी हो वह आचार्य हो सकता है, अन्य कोई नहीं हो सकता है। आचार्य होना इन ८ गुणोंके आधार पर है, जिसमें यह तीसरा गुण बताया है।

आचार्यका प्रकारकत्व गुण— चौथा गुण है प्रकारकत्व। सर्व संग की वैयावृत्ति करनेकी विधिका परिज्ञान हो और वैयावृत्य करनेकी जिनमें

कला हो उसे प्रकारक कहते हैं। जो स्वयं वैयावृत्ति करनेमें संकोच न रखे स्वयं करे तो शिष्य लोग भी करेंगे और स्वयं यदि आर्डर देता रहेगा और खुद कुछ भी प्रयोग न करे उनका शासन नहीं बन सकता है। यह शासन वात्सल्यका शासन है। तो वैयावृत्ति करनेकी विधिका परिज्ञान और वैयावृत्ति करनेकी उत्तम कला हो इसका नाम प्रकारकत्वगुण है।

आचार्यका आयापायविदर्शित्व गुण—५ वां गुण होना चाहिए आचार्यमें आयापायविदर्शित्व। किसी भी कार्यकी हानि हो, किसी भी कार्यमें लाभ हो उसके बतानेकी जिसमें क्षमता है वह होता है आयापायविदर्शी। आचार्य महाराज लाभ अलाभकी बात जान जाते हैं। अकम्पनाचार्य मुनि महाराज, जो कि ७०० मुनियोंके आचार्य थे, जान लिया था उज्जैननगरमें कि यहां बड़ा उत्पात होनेको है, यदि पहिले उपयोग दिए होते इस ओर तो उस स्थान पर ही न जाते, क्योंकि संघ सहित थे। जब जाना तब सबको आज्ञा किया कि सब लोग मौन रहें। तो लाभ जानना, हानि जानना, उससे बचनेका उपाय जानना, यह बात जिनमें विशेषतासे पायी जाती है वे आचार्य होते हैं।

आचार्यका अपरिस्रावित्व गुण—७ वां महागुण है आचार्यमें अपरिस्रावित्व। आचार्यमहाराजमें इतनी उदारता होती है कि कोई शिष्य कैसी ही आलोचना करे, उसके उस कथनको, दोषको यों पी जाता है अर्थात् किसीको प्रकट नहीं करता। जैसे बहुत तवे हुए तवे पर बूँद गिरती है तो फिर उस बूँदका कहां पता रहता है? जैसे वह बूँद सूख जाती है इसी तरहकी गम्भीरता आचार्य परमेष्ठीमें होती है कि कोई भी दोष बताएँ, आचार्य महाराज कहीं भी बताते नहीं है, क्योंकि यदि बता दें तो उससे कितनी ही हानियां हैं? प्रथम तो यह बड़ेके अनुरूप बात नहीं है कि किसीके दोषको प्रकट करे, कहे और करदे प्रकट तो पहिले तो संघ में रहने वाले मुनियोंकी आस्था आचार्यसे हट जायगी, फिर अन्य कोई उनसे आलोचना न करेंगे। यों फिर वे आचार्य नहीं रह सकेंगे। नामके लिए चाहे कोई भी आचार्य नाम धरा ले। मान लो कोई मुनि अकेले हैं, १०, २०, ५० श्रावकोंसे कहलाकर चाहे अपनेको आचार्य कहलवा लें, लो बन गए आचार्य, यों आचार्यत्व नहीं मिलता। आचार्यत्व होनेमें इतने सब गुण होने चाहियें, दोष प्रकट कर दे तो कहो शिष्य संक्लेशके मारे अपघात कर डाले और अपना अकल्याण करले। शिष्यका इससे क्या भला हुआ और संघका इससे क्या भला हुआ? संघके समस्त मुनियोंकी उनसे आस्था हट गयी।

आचार्यका निर्यापकत्व गुण— ८ वां गुण है निर्यापकत्व। शिष्यों का निर्यापन करना। शिष्यने जो आराधना धारण की है उसकी वह आराधना अंतिम समय तक चले और उस समाधिका समताका आश्रय पाकर शिष्य पार हो जाय, ऐसा उपाय करना ऐसी जिसमें क्षमता हो, वह निर्यापक कहलाता है। ऐसे ८ महागुणोंकरि सम्पन्न जो साधु परमेष्ठी होते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

आचार्यदेवकी संवेगनिष्ठता— ये भगवान आचार्यज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य—इन ५ आचारोंसे परिपूर्ण हैं और पंचेन्द्रियरूपी मदांध हाथीके दर्पको दलनेमें समर्थ हैं अर्थात् विषयोंकी आशाके रंच भी वश नहीं हैं। सारी बात लगनकी होती है। लगन हुए बिना धर्मका कोई कार्य किया जाय, कोई भेष रखा जाय उससे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। जिसकी लगन शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके शुद्धविकासकी ही लग रही हो उसके लिए ये सरस आहार सब विरस लगते हैं। उनको तो रस अपने दर्शन ज्ञान स्वभावकी अनुभूतिमें आता है। लगनकी बात है। इसकी लगन जिसे नहीं है वह इसके रहस्यको क्या पहिचान सकता है? यों ही समझ लीजिए सांसारिक कार्योंमें जिसको जिस बातकी तृष्णा हो गयी है, जिसकी जिसे लगन हो गयी है उसे अन्य कुछ नहीं सूझता। उसको तो केवल अपने लक्ष्यकी बात ही सूझती है। तो लगनमें यह प्रताप प्रकट होता है कि उसे बाकी बातें सब नीरस मालूम होने लगती हैं। उसको निजमें लीन होने वाली बात ही सरस लगती है।

सकलसंन्यासियोंकी विषयातीतता— जिन महाभाग निकट भव्य मुनिराजको केवल एक शुद्ध ज्ञानमात्र रहनेकी स्थितिकी लगन लगी है, जो ज्ञाताद्रष्टा रहनेका ही यत्न करते हैं, रंच भी राग और द्वेष हो तो उसे अपना अपाय समझते हैं उनको ये आहार आदिक कैसे रुच सकते हैं? साधुजन ध्यान तपस्यामें लीन हैं। कोई कीड़ी, बिच्छू, स्याल, चूहा कुछ भी भख रहा हो, काट रहा हो तो भी वे अपने आत्मस्वरूपसे नहीं चिगते हैं। क्या उनके हाथमें इतना बल नहीं है कि उन्हें वे अपने हाथोंसे हटा सकें? अरे उनमें तो इतना बल है कि वे बड़े-बड़े सिंहोंको भी अपने भुजावोंके बलसे हटा दें, पर वे अव्यग्र होकर ध्यानमें लगते हैं। चक्रवर्ती भी तो मुनि हो जाते हैं, कोटि बलधारी भी तो मुनि बन जाते हैं, लेकिन उन्हें ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थितिसे इतना पूर्ण अनुराग है कि वे इन विकल्पोंको भी पसंद नहीं करते। वे इस देहके रागको अथवा डसने वाले इन कीट आदिकके द्वेषको रंच भी पसंद नहीं करते। जानते हैं कि राग-

द्वपके विकल्पोंसे अकल्याण ही है। वे अपने ज्ञाता द्रष्टा रहनेके यत्नमें बाधा नहीं डालते हैं। इतनी जिसमें दृढ़ता है वह पुरुष इन्द्रियके विषयोंके क्या आधीन हो सकता है? वह इन्द्रियविषयातीत है; ऐसा दृढ़ पुरुष आचार्य परमेष्ठी होता है।

आचार्यदेवकी पंचाचारसमग्रता— आचार्य परमेष्ठी सम्यग्दर्शनके आचरणमें याने सम्यग्दर्शनके परिणमनमें युक्त रहते हैं और अन्य साथियों को भी उसमें लगाते हैं, इस कारण आचार्योंका यह दर्शनाचार दृढतापूर्वक पलता है, ऐसा ही सम्यग्ज्ञानके विषयमें आचरण करते हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूपमें अपना उपयोग लगाते हैं और अन्य साधुवोंको सम्यग्ज्ञानमें प्रयुक्त करनेका उद्यम करते हैं। इस कारण उनका यह ज्ञानाचार मूल गुण है। चारित्रके सम्बन्धमें भी वे स्वयं आचरण करते हैं और दूसरोंको भी आचरणका उपदेश करते हैं। वास्तविक सम्यक्चारित्र है अनादि अनन्त अहेतुक निर्दोष, चित्स्वभावमय अपने स्वरूपमें उपयोग रखनके बलसे योगोंको चेष्टा रहित कर देना। ये आचार्यपरमेष्ठी अनशन आदिक १२ प्रकारके तपोंमें भी स्वयं लगते हैं और अन्य साधुवोंको भी लाभप्रद उपदेश से लगाते हैं। इस कारण उनके यह तपाचार एक मूल गुण है, यों ही सर्व प्रकारके आचरणोंके करनेमें अपनी शक्तिको न छिपाना, अपनी शक्ति अनुसार इन आचारोंमें प्रवृत्त होना इसका नाम है वीर्याचार। ऐसे ये संत पांच आचारों करिके सहित हैं।

आचार्य परमेष्ठीकी विषयोंसे परमोपेक्षा— ये आचार्यदेव पंचेन्द्रिय के विषयोंके वश नहीं हैं। जिनका भूमिपर शयन होता है भूमिपर जिनका आसन है, जिन्हें किसी भी कोमल पदार्थ पर बैठनेकी आकांक्षा तक भी नहीं होती है जो सर्वशृङ्गारोंसे दूर हैं, वर्षोंका मैल शरीर पर लगा हुआ है फिर भी उसे हटानेका ध्यान नहीं रखते हैं, ऐसे साधुजन क्या स्पर्शन इन्द्रियके वश होंगे? जो निज ज्ञानरसके अनुभवमें लीन रहा करते हैं, उत्कृष्ट शुद्ध परमानन्द जिनके प्रकट हो रहा है ऐसे साधुजनोंको रसना इन्द्रियके विषयसेवनसे क्या प्रयोजन? घ्राणेन्द्रियके विषयकी तो चर्चा ही क्या करें? जो साधुजन अपवित्र वस्तुयें दिख जायें तिस पर भी नाक तक नहीं सिकोड़ते हैं ऐसे पुरुषोंको सुगंधित तेल या किसी भी वस्तुके सूँघने की इच्छा नहीं हो सकती है। जिनके नेत्र भगवंतके दर्शनके लिए ही उत्सुक हैं, जिन वचनोंके, शब्दोंके सुननेके लिये उत्सुक हैं वे पुरुष इन नेत्रोंसे विषयोंके पोषक पदार्थोंको क्या निरखेंगे? एक बार तो कुछ दिखनेमें आ जाता है किन्तु दुबारा उस रम्यरूपके देखनेकी यदि चेष्टा है तो समझो वह

अपने पदसे चलित हो रहा है। जो सत्य धर्मके वच। मुनिनेकी ही भावना बनाये रहते हैं, जो धार्मिक, आध्यात्मिक भक्ति विषयक शब्द ही सुनना चाहते हैं अथवा जो सभी प्रकारके इन्द्रियोंके संयमकी वाञ्छा रखते हैं, जो गुप्तिके पालनेमें अभिलाषी रहते हैं ऐसे पुरुष संतजन किस विषयकी अभिलाषा करेंगे? जैसे कोई वीर मदांध हस्तीके घमंडको दलित कर देता है ऐसे ही ये मोक्षमार्गके वीर साधुपुरुष पंचेन्द्रियके मदांध हस्तीके दर्पको दलित कर देते हैं।

धीरता और गम्भीरता— ये परम पुरुष आचार्य परमेष्ठी धीर और गम्भीर हैं। समस्त कठिन उपसर्गोंका मुकाबिला करनेकी इनमें धीरता गम्भीरता प्रकट हुई है। धीरताका लोग अर्थ करते हैं गम खाना, घबड़ाना नहीं, यह तो फल है ही, पर धीरताका शाब्दिक अर्थ यह है 'धीं बुद्धिं राति ददाति इति धीरः' जो बुद्धिको दे उसे धीर कहते हैं। धीरके भावका नाम है धीरता। बुद्धिको स्वस्थ बनाने वाली बात है समता। किसी भी पदार्थमें राग अधिक हो जाय तो बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है। किसी प्रकार किसी भी पदार्थमें द्वेष बढ़ जाय तो बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है। जगत्के प्राणी जो अनादिसे अब तक भटक रहे हैं इसका कारण है परपदार्थविषयक रागद्वेष और उस रागद्वेषका कारण है व्यामोह, जरा अपनी ओर दृष्टि करके निहारो यह तो मात्र ज्ञानस्वरूप है। अपने आपके अन्तरमें आकर निरखो केवलज्ञानप्रकाश मात्र है, शरीर तकसे भी सम्बन्ध नहीं है। इस निज स्वरूपकी ओर दृष्टि आये तो वहां न कोई रोग है, न कोई कमजोरी है, न कायरता है, न व्यग्रता है, न चिंता है। चित् स्वभावकी दृष्टि ही परम औषधि है। जो सदाके लिए रोगमुक्त होना चाहते हैं उन्हें इस चित्स्वभावकी दृष्टिरूप परम औषधि चाहिए। मोह एक कठिन रोग है। निर्मोहता ही इस रोगको हरने वाली अमोघ औषधि है। निर्मोहता परिणामसे ही धैर्य प्रकट होता है और गुणोंमें गम्भीरता आती है अर्थात् परिपूर्ण होकर ज्ञाताद्रष्टा रहे ऐसी गम्भीरता इस आचार्य परमेष्ठी में होती है। ये आचार्यपरमेष्ठी किसी शिष्यके दोषको निरखकर अथवा अन्य प्रतिकूल चेष्टावोंको देखकर अधीर नहीं हो जाते हैं, बल्कि गम्भीर होते हैं।

आचार्यका शुद्ध शासन— कल्याणार्थी शिष्य आचार्यकी उपेक्षा देखें अपने प्रति तो इसका वे महादण्ड समझते हैं और इसी कारण आचार्य परमेष्ठीका यह धर्म शासन निर्बाध चलता है। आचार्यकी वाञ्छा नहीं है कि शिष्योंपर शासन करें किन्तु शिष्योंका प्रेम, शिष्योंका विनय

और शिष्योंकी ऐसी इच्छा है कि मुझ पर मेरे गुरु अप्रसन्न न हों, उपेक्षा न कर जायें, ऐसी भावना यह स्वयं आचार्य महाराजका शासन करवा लेता है। नहीं तो जिसने घर छोड़ा है, वैभव छोड़ा है ऐसे आचार्यदेवको क्या पड़ी है इस खटपटमें पड़ने से कि उन साधुवोंपर शासन करें, वहां व्यवस्था बनायें। आचार्य शासन नहीं करते, उनकी व्यवस्था नहीं बनाते किन्तु शिष्योंका गुण, शिष्योंका विनय, शिष्योंकी सद्भावना शासन करवा लेती है। आचार्य परमेष्ठी ऐसे प्रबल सद्भावके हैं कि अपने आपके मोक्षमार्गमें रंच भी अन्तर नहीं डालते हैं। जैसे साधुजन मोक्षमार्गमें प्रगति करते हैं यों ही आचार्य परमेष्ठी भी मोक्षमार्गमें प्रगति कर रहे हैं और साथ ही सहज भावसे शिष्योंके परोपकार भी उनसे हो जाते हैं, ऐसे लक्षणों वाले ये भगवंत आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

पंचाचारसमग्रता— देखो इन आचार्यपरमेष्ठीको ये ५ प्रकारके आचरणके आचरणोंमें बहुत कुशल हैं। जैसे स्कूलमें बच्चोंसे कोई काम करानेको होता है, फुलवाड़ी क्यारी वगैरह लगवाना होता है तो कुशल-मास्टर अपने आपमें अभिमानकी मुद्रा न रखकर स्वयं उसका प्रारम्भ करता है, स्वयं काम करने लगता है तो कुछ थोड़ा सा काममें मास्टरको लगते देखकर फिर वे बच्चे बड़े प्रेमसे उस कामको करते हैं। केवल हुकूमत, हुकूमतसे बच्चोंमें यह बात नहीं जग सकती है कि वे अपनी कलावोंमें निपुणताका कार्य कर सकें। ऐसे ही आचार्य परमेष्ठी साधुवों से भी अधिक आचारपालनमें सावधान रहते हैं अपने आपकी कल्याण प्रवर्तनामें और कोई कोई महासाधु आचार्योंसे भी अधिक सावधान होते हैं, पर प्रायः आचार्य परमेष्ठी साधुवोंसे अधिक सावधान रहते हैं अपने आपके मोक्षमार्गकी वर्तनामें। तभी तो अन्य साधुजन स्वयमेव मोक्षमार्ग में योगप्रवृत्ति करते हैं।

आचारसमग्रताका मूल भाव— भैया! आचारनिपुणताकी ये सब बातें तब हो सकती हैं जब पहिले अपने आपको यों तो समझ लें कि मैं अकिञ्चन हूं, अर्थात् मेरेमें मेरे स्वरूपके अतिरिक्त अन्य किसी चीजका प्रवेश नहीं है, मेरे शरीर भी नहीं है, मेरे इज्जत भी नहीं है, पोजीशन भी मेरी कुछ वस्तु नहीं है, जो प्रशंसाके शब्द बोले जाते हैं उनसे भी मेरा रंच सम्बन्ध नहीं है, मैं तो अकिञ्चन हूं, अपने स्वरूप मात्र हूं, मैं जो कुछ करता हूं अपने को करता हूं, जो कुछ भोगता हूं अपनेको भोगता हूं, मैं केवल हूं, ऐसी अकिञ्चनता की दृढ़ श्रद्धा है इस ज्ञानी संतको जिसके कारण यह मोक्षमार्गका प्रवर्तन चलता है और साधुसंगका यह शासन

निर्बाध चलता रहता है।

अव्यवस्थाओंका कारण— सर्व अव्यवस्थाओंकी जड़ कषायभाव है। समाजमें, सोसाइटियोंमें, घरोंमें, धार्मिक गोष्ठियोंमें किसी भी जगह जब भी विवाद खड़ा होगा तो कषायके कारण ही खड़ा होगा। और उसमें भी है प्रधान लोभ कषाय। क्रोध यों ही अचानक उठकर नहीं आता है। किसी मानी हुए इष्ट वस्तुमें बाधा आये तब क्रोध उत्पन्न होता है। धनमें बाधा आये, इज्जतमें बाधा आये तब क्रोध उत्पन्न होता है। यह लोभ कषायका रंग इतना गहरा है कि जिसमें रंगा हुआ प्राणी चिंतित रहता है और व्यग्र रहा करता है, कोई-कोई तो लोभकषायका नाम तक नहीं लेते हैं। जैसे किसी गंदी चीजका नाम लेना लोग बुरा समझते हैं ऐसे ही लोभ कषायका नाम लेना भी कुछ लोग बुरा समझते हैं। लोभका नाम कहना हो तो आखिरी कषाय यों कहा करते हैं। जैसे कोई मांस खाता था पहिले तो लोग मांसका नाम नहीं लेते थे, कह देते थे कि फलाना गंदी चीज खाता है, मांसका नाम लेना बुरा समझते थे, ऐसे ही लोभकषायका नाम भी लेनेमें कुछ लोग संकोच करते हैं। धनका लोभ हो, इज्जतका लोभ हो, किसी भी बातका लोभ हो तो छल कपट करना पड़ता है। मान भी अपनी इज्जतके लगावमें प्रकट होता है। सब कषायोंकी सरदार है लोभ कषाय। सब कषायें नष्ट हो जाती हैं। वे गुणस्थान में भले ही यह लोभकषाय अपना रंग अच्छेरूपमें नहीं दिखा सके किन्तु लोभकी कुछ न कुछ ऐंठ १० वें गुणस्थान तक रहती है। जिन साधुजनोंने इन कषाय-स्थानोंको नष्ट कर दिया है ऐसे आचार्यपरमेष्ठी स्वयं मोक्षमार्गमें बढ़ते हैं और दूसरे शिष्योंको बढ़ाते हैं।

वस्तुपरिचय— इस विवेकी पुरुषके द्रव्यसम्बन्धी परिज्ञान यथार्थ रहा करता है, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, किसीका किसीसे सम्बन्ध नहीं है। सभीका स्वरूपास्तित्व जुदा-जुदा है, ऐसी स्वतंत्रताकी प्रतीति जिसके निरन्तर बनी रहती है वह कैसे व्यग्र होगा? वह गम्भीर है। सबसे महान् वैभव यही है कि वस्तुकी स्वतंत्रताकी प्रतीति रक्खी जाय। सर्व जीवोंका सम्मान करना इसका सहजगुण है, रागद्वेष इस ही स्वतंत्रताकी प्रतीतिके बलसे मिटा करते हैं। यद्यपि कुछ लोग रागद्वेष मिटानेके लिए ऐसे भी उपाय करते हैं, ऐसी भावना बनाते हैं कि जो भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे सब ईश्वरके हैं, वे मेरे कुछ नहीं हैं। उद्देश्य तो ठीक है पर अन्तरमें देखें तो वह विविक्तता इसमें नहीं आ पाती है। जो विविक्तता इस प्रतीतिमें बसी हुई है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, एकका दूसरेमें अत्यन्ताभाव है।

कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें कुछ करता नहीं है, किसी पदार्थसे कुछ निकाला नहीं जा सकता है, ऐसी प्रतीति जब आती है तो इस स्वतंत्रता की प्रतीति वाला भव्य पुरुष यथाशीघ्र निर्दोष शुद्ध एक स्वरूपमें रम जाता है।

आचार्यदेवका उपकार— ऐसे समग्र गुण जिनमें मौजूद हैं ऐसे आचार्योंके संसारके क्लेश मिटानेके लिए ये वचन हैं। न होते ये कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य आदिक ऋषि तो आज हम आप लोगोंको जो साहित्य देखने को मिलता है, कहां मिलता और फिर कल्पना कीजिए कि हम आप कहां भटकते होते ? कितना परम शरण मिला है हम आप को ? इस दुर्लभ धर्मसमागमको पाकर अब हम आपको क्या चिंताकी बात रह गयी ? आचार्य महाराज ने जो हम आप सबको दृष्टि दिलाई है उससे मैं अकिञ्चन हूं, यों निहार कर विविक्त शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मस्वभावकी दृष्टि कर लें तो सारी व्यग्रताएँ तुरन्त समाप्त हो जायेंगी। जैसे कि पानीमें आगके पड़नेसे आग शांत हो जाती है ऐसे ही परमोपकारक आचार्य परमेष्ठीको हमारा नमस्कार हो। ये आचार्य परमेष्ठी इन्द्रियके वशसे रहित हैं, अनाकुल हैं, अपने ज्ञानमें लीन हैं, शुद्ध हैं, पवित्र हैं, कषाय इनकी उपशान्त हैं, इन्द्रियोंका इन्होंने दमन किया है, इनके संस्कार अपने शुद्धस्वरूपमें संयत हैं, नियत हैं। यह ही आंतरिक भाव मोक्षके साक्षात् कारणभूत शुद्ध ध्यानके कारण उनके होता है। सर्वप्राणियोंको दुःख न उत्पन्न हों ऐसी भावनासे वे ओतप्रोत हैं। दयाकी मूर्ति आचार्य परमेष्ठीका कितना उपकार माना जाय ? जिसने बिना स्वार्थके जगतके जीवोंका हित चाहा, ऐसे आचार्य परमेष्ठीको मन, वचन, कायको संभाल कर मेरा नमस्कार हो।

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥७४॥

उपाध्याय परमेष्ठी— इस गाथामें उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप कहा गया है। जो रत्नत्रयसे संयुक्त हैं, जिनकथित पदार्थोंके उपदेशक हैं, अपने आत्महितके मार्गकी प्रगतिमें शूर हैं, निष्काम भावना करि सहित हैं ऐसे साधु संत उपाध्याय होते हैं। उपाध्याय परमेष्ठीमें ज्ञानकी विशेषता है और ऐसे विशिष्ट ज्ञानी साधुको जो आचार्य यह घोषित करदें कि ये मेरे संगके उपाध्याय हैं तो वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं।

रत्नत्रय— रत्न कहते हैं सारभूतको, रत्न नाम पत्थरका नहीं है किन्तु शब्दार्थसे यह विदित है कि जो सारभूत हो उसे रत्न कहते हैं।

लोगोंकी निगाहमें सारभूत हीरा माणिक लगा इसलिए उसे रत्न कहा— क्योंकि ऐसी कीमती वस्तु परिमाणमें छोटी और मूल्यवान् होनी चाहिए। सो वह माणिक ही ऐसा कीमती है। सो लोग इन माणिकों को रत्न बोलने लगे। पर रत्न नाम है सारभूत वस्तुका। अध्यात्ममें सारभूत वस्तु है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र। इस लिए इनका नाम रत्नत्रय है। और किसी किसी मनुष्यको भी तो कह देते हैं कि इन साहबका क्या कहना है? ये तो रत्न हैं अर्थात् आप श्रेष्ठ हैं, उपादेय हैं। कहीं उस रत्न का यह अर्थ नहीं है कि वह पत्थर है। तो रत्नका अर्थ है सारभूत रत्नत्रय मायने सारभूत तीन बातें। इन माणिकोंसे भी सारभूत चीज हैं आत्माका विश्वास, आत्माका ज्ञान, आत्माका चारित्र।

सर्वोत्कृष्ट सारभूत परिणाम— आत्महितकी यह बात मात्र कहने सुननेकी बात नहीं है, दिलमें लगानेकी बात है। माणिकमें क्या सार है? माणिकसे ज्यादा सारभूत गेहूं चना है। गेहूं चनामें भी सार नहीं है, गेहूं चनाको खाते रहें तो यह कुछ नियम है क्या कि जबतक यह मनुष्य रहेगा तब तक इसे गेहूं चना मिलते रहेंगे? रोग भी न होगा, स्वस्थ रहेगा, सम्पन्न रहेगा? सर्वोत्कृष्ट सारभूत है वह परिणाम जिसमें लबालब आनन्द भरा है, रंच आकुलता नहीं है, वह परिणाम है आत्मानुभवका ज्ञानका, चारित्रका। ऐसे जो रत्नत्रय करिके सहित है वह उपाध्याय है।

उत्कृष्ट रिश्ता— दुनियामें सबसे ऊँची सर्वोत्कृष्ट रिश्तेदारी है गुरु शिष्यकी। जिसका सौभाग्य हो सो पहिचाने। वेतन लेकर मास्टरी करने वाले गुरुकी यहां चर्चा नहीं कर रहे हैं। जिनका सम्बन्ध ऐसे रहपर लगा दे कि जिससे अनन्तकाल तकके लिए संसारके संकट मिट जायें, वह सम्बन्ध उत्कृष्ट है। एक कोई कथानक है कि एक गुरु शिष्य थे। जंगलमें ध्यान करते थे। गुरुने एक बार देखा कि एक भयंकर विषधर सांप आ रहा है। वह कई भवोंका वैरी होगा गुरु ने जान लिया। गुरुने जान लिया कि यह कभी न कभी शिष्यकी जान लेगा। शिष्य सो रहा था। गुरुने क्या किया कि अपने उस निवासस्थानके निकट चारों ओर कुण्डली रेखा कर दी और उस शिष्यकी छाती पर बैठकर उसके शरीरसे थोड़ा खून निकाला और वह खून सर्पके आगे डाल दिया। सर्प खून पीकर वापिस लौट गया। उस समय शिष्यने जगकर देखा कि गुरुजी छाती पर बैठे हैं और खून निकाला तो ऐसी स्थितिमें शिष्य तो यही सोचेगा कि गुरु हमारी छाती पर बैठे हुए हमारे प्राण ले रहे हैं, परंतु वह शिष्य गुरुके गुणोंसे भरा पूरा था। उसके मनमें रंच भी शंका न हुई कि गुरु मेरा

अनर्थ कर रहे हैं और वहीं वह शिष्य हाथ जोड़े पड़ा रहा। गुरुने जो कुछ करना था सो किया। इतना विश्वास होता है शिष्यका गुरुके प्रति।

शिष्योंका गुरुपर अगाध विश्वास— आप लोगोंका नाई पर कितना विश्वास होता है, वह बाल बनाता है तो आप अपनी गर्दन उसे सौंप देते हैं। वह तो बड़ा पैना छुरा लिए रहता है। आप अपने दोनों हाथ भी पीछे ले आते हैं, प्रेमसे आप उस नाई को अपनी गर्दन सौंप देते हैं। कितना विश्वास है आपको नाईके प्रति? क्या नाई बराबर भी विश्वास न हो गुरुके प्रति और वह शिष्य कहलाये। अतुल विश्वास गुरुके प्रति-शिष्यका होता है। पूर्व समयमें शिष्य गुरुजनोंको अपना सर्वस्व मानते थे। तब गुरुजनोंका ऐसा प्रसाद मिलता था कि शिष्योंको वे सब बातें जो बड़ी तपस्या, बड़ी साधनाके बाद प्राप्त होती हैं मिल जाती थीं। वे सब विनयके कारण, उस अप्रसन्न गुरुके मुखसे निकले हुए प्रसन्न वचनोंके कारण संसारके संकट हरने वाले मर्मको विदित कर लेते थे। उपाध्याय कहो, प्रोफेसर कहो, पाठक कहो, शिक्षक कहो, अध्यापक कहो सब एक ही बात है, किन्तु आचार्य जिसके सम्बन्धमें घोषणा करे ये अपने संघके उपाध्याय हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं।

उपाध्यायोंमें ज्ञानीकी विशेषता— उपाध्याय परमेष्ठी जीवादिक समस्त तत्त्वोंके, पदार्थोंके उपदेश देनेमें शूर हैं। उपाध्यायके मूल गुण २५ बताये हैं, ११ अंग १४ पूर्व यों २५ उनके गुण हैं। उपाध्याय परमेष्ठीका कितना विशाल ज्ञान होता है? आजके समयमें आचार्य तो ज्यादा हो गए उपाध्याय एक भी नहीं रहा जबकि उपाध्यायसे बड़ा पद है आचार्यका। इससे ज्ञान करो कि आचार्य कौन बन सकता है? जिसमें उपाध्यायसे भी बढ़कर योग्यता हो वह आचार्य है। न हो समान, न हो ११ अंग १४ पूर्व का ज्ञान, मगर वर्तमान ज्ञानियोंके हिसाबसे कुछ विशिष्ट ज्ञान तो रखते हो तब वे आचार्य कहला सकते हैं। अब बतलावो साधारण गृहस्थके बराबर भी ज्ञान न हो और आचार्य बननेकी धुन बनाये तो उसमें कितनी ही विडम्बनायें हो रही है जो आज समाज भुगत रहा है। जो आजके हिसाब में कुछ विशिष्ट ज्ञान रखता हो वह आचार्य है, ऐसी स्वीकारता होनी चाहिए।

उपाध्याय परमेष्ठीकी निर्दोष देशना— उपाध्याय परमेष्ठी जो कुछ उपदेश देते हैं वे सब उपदेश जिनेन्द्र देवकी परम्परासे चले आये हैं स्वरुचिनिर्मित, कपोलकल्पित उनके उपदेश नहीं है, जिसने इस निश्छल अखण्ड अद्वैत निज परमस्वभावका श्रद्धान किया, ज्ञान किया, उसमें ही

रमण किया, एकतारूप निश्चय रत्नत्रयमें जो परिणत हो और उसके फल में जिसके अनन्त चतुष्टय प्रकट हो, ऐसे आप्त देवकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे चला आया हुआ जो समस्त पदार्थोंका विवरण है उस विवरण का उपदेश करनेमें वे कुशल हैं। उपाध्याय परमेष्ठी ने निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म दोनोंका उपदेश किया है। निश्चय तो है वस्तुके स्वभावका नाम अथवा आत्माके स्वभावका नाम और इस स्वभावके अवलोकन के बलसे जो मोह क्षोभ रहित निर्मल परिणाम हुआ है धर्म उसका भी नाम है। निश्चयधर्म और जो इस निश्चयधर्मको प्रकट करनेमें परम्परया कारणभूत हो वह व्यवहारधर्म है, निश्चयधर्मके प्रकट होनेका वास्तविक कारणभूत एक देश शुद्धोपयोग है, उसके रहते हुए जो शुभोपयोगकी प्रवृत्तियां चलती हैं वे सब व्यवहारधर्म कहलाती हैं।

अन्तस्तत्त्वमें उपादेयताके भावकी प्रयोजकता— धर्मधारण करनेके लिए यह परिज्ञान सहायक है कि निज शुद्ध आत्मतत्त्व, ज्ञानमात्र, ज्ञायकस्वरूप यह तो उपादेय है और परद्रव्य व परभाव हेय हैं। किसी भी वर्णन का कोई एक ध्येय हुआ करता है। मोक्षमार्गका प्रयोजक जितना भी उपदेश है उस उपदेशका प्रयोजन केवल एक यही है निज शुद्ध आत्मतत्त्व उपादेय है और सब परभाव हेय हैं। कुछ भी व्यवहारधर्म करें उसमें यह धुन आनी चाहिए, ऐसी जिसकी धुन बन जाती है वह उच्च पुरुष है। सम्यग्दृष्टि भी पूज्य माना गया है। पुरुष पूज्य नहीं है सम्यक्त्व पूज्य है। सम्यग्दर्शनकी अतुल महिमा है। अविरति सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गमें लगा हुआ है, किन्तु निर्ग्रन्थ भेषका धारण करने वाला यदि निज सहजस्वभाव का अनुभव नहीं कर सका है तो वह मोक्षमार्गमें लगा हुआ नहीं है। उसके सारे काम लौकिक हैं, अलौकिक नहीं रहे। मात्र वह सब दिल बहलानेकी बात है। किसीके तीव्र कषाय है उसका दिल बहल रहा है विषयोंमें किसीके मंद कषाय है तो उसका दिल बहल रहा है व्रतमें, संयम में, तपमें। उसने भी दिल बहलाया और इस भेषधारी साधुने भी अपना दिल बहलाया, किन्तु सम्यक्त्वके अनुभव बिना न वहां सांसारिक संकट टलते हैं और न यहां कोई परमार्थमें वृद्धि होती है।

उपाध्यायकी व्युत्पन्नता— उपाध्याय शब्दका अर्थ क्या है? उसका अर्थ है समीपमें, "यस्य समीपे शिष्यवर्गः अधीते सः उपाध्यायः। जिनके समीप शिष्यजन अध्ययन करें उन्हें उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। यह उपाध्याय परमेष्ठी निष्कास भावना करिके सहित हैं, ये शिष्यजनोंको शिक्षण देकर उनसे कोई सेवा शुश्रूषा नहीं चाहते हैं, उनसे कोई अपनी

सेवावृत्ति नहीं चाहते हैं किन्तु शिष्य स्वयं भक्तिमें ओतप्रोत होकर सेवा शुश्रूषा करते हैं। यह शिष्योंका कर्तव्य है किन्तु उपाध्याय परमेष्ठी निज परमात्मतत्त्वकी भावनामें उपयुक्त हुआ करते हैं और इस सहज ज्ञायक स्वभावकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग शाश्वत आनन्द है उस आनन्दामृतका पान किया करते हैं।

अध्यात्मनिर्णयकी प्रयोजकता— भैया! यह आनन्द कैसे मिलेगा? अपने स्वरूपको निहारें। इसके लिये अध्यात्मज्ञान चाहिये यह आत्मा सिवाय जानने के और कुछ नहीं करता है। बाकी प्रसंगोंमें जितने भी काम होते हैं वे निमित्तनैमित्तिक भावमें होते हैं। यह आत्मा बोलता भी नहीं है। आपको सुनाई दे रहा है, कुछ देख रहे हो कि ये ओंठ चल रहे हैं, जीभ चल रही है, हाथ चल रहे हैं, वाणी निकल रही है, तुम सुन रहे हो किन्तु आत्मा बोल ही नहीं रहा है। यह आत्मा तो ज्ञान कर रहा है और इच्छा कर रहा है, साथमें इच्छा भी तो लगी है, इस जीवके होने वाले के ज्ञानमें तो आफत है नहीं। ज्ञान तो जीवका स्वभाव है, वह तो जानेगा ही, किन्तु इच्छाका जो विकार हो गया है उससे भीतरमें ऐसी खलबली मच गई कि आत्माके प्रदेश हिल उठे, प्रदेशोंमें परिस्पंद हो गया। अब आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पंद हुआ, योग हुआ उसका निमित्त पाकर शरीरमें भरे हुए जो वातादि तत्त्व हैं, वात, पित्त, कफ। शरीरमें जो वायु तत्त्व हैं इन वायु तत्त्वोंमें फड़कन हुई और जहां वायुतत्त्वमें फड़कन हुई तो जैसा मूल निमित्त था, इच्छा थी उसके अनुकूल योग हुआ, उसके अनुकूल वायु फड़की और उसके अनुकूल ये ओंठ जीभ कंठ हिल उठे।

आत्मा द्वारा शब्दादिका अकर्तृत्व— मुख जैसा यंत्र यदि कोई वैज्ञानिक बना सके वैसी ही वायु चले तो ऐसे यंत्रसे ऐसा ही बुलवा लो, ऐसे ही जीभ, हाथ आदि चलवा लो। उन शब्दोंका निर्माण नियत है। कंठमें जोर आये बिना क, ख, ग, घ आदि शब्द नहीं बोले जा सकते हैं तालुके स्पर्श बिना च, छ, ज, झ आदि शब्द नहीं बोले जा सकते हैं, मूर्धा को छुये बिना ट, ठ, ड, ढ आदि शब्द नहीं बोले जा सकते हैं। जैसे हारमोनिय में जो स्वर दबायें वैसी ही आवाज निकलती है, इसी प्रकार गलेसे लेकर इस मुख तकके इस हारमोनियम बाजेमें जैसे अंग चलेंगे वैसी आवाज निकलेगी। दांतोंमें जीभ लगाये बिना त, थ, द, ध, न नही बोला जा सकता है, ओंठमें ओंठ मिलाए बिना प, फ, ब, भ, म नहीं बोला जा सकता है। तो यह मुख तो एक बाजा है, जैसे अंग चलावो तैसी बात निकलेगी। इस आवाज को बोलने वाला यह आत्मा नहीं है तब फिर इस

आत्माने क्या किया ? केवल परिज्ञान किया और इच्छा की तो अब हम मात्र ज्ञान ही कर सकते और इच्छा ही कर सकते, इससे आगे बाह्यपदार्थों में कुछ नहीं कर सकते तब फिर कुछ विवेक बनायें न, हम ऐसा वस्तुका परिज्ञान करें, ऐसा तत्त्वका परिज्ञान करें कि जिस परिज्ञानमें संसारके सारे संकट टल सकें, वह तत्त्व है निज कारणसमयसार।

उपाध्याय परमेष्ठीका अभिनन्दन— जो निरञ्जन है, परभावके लोगोंसे रहित है, सर्व प्रकारके बाह्य परिग्रहोंके त्यागरूप है, ऐसे निज परमात्मतत्त्वकी भावना ये उपाध्याय परमेष्ठी करते हैं और इस भावना के फलमें उनको जो सहज परमशाश्वत आनन्द प्राप्त होता है, वे तो उससे तृप्त हैं, फिर भी करुणाके कारण शिष्यवर्गों को अध्ययन कराते हैं, ऐसे ये उपाध्याय परमेष्ठी जैनोंके उपास्य हैं अर्थात् रागद्वेषको जीतने वाले भव में श्रद्धा रखने वाले साधु संतजनोंके उपासक हैं। ऐसे रत्नत्रयमय शुद्ध भव्यरूप कमलोंको प्रफुल्लित करने वाले सूर्यके समान प्रकाशमान् उपाध्याय पवित्र ज्ञानपुंज ज्ञान ही जिसका एक क्रीड़ा स्थान है ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी को बार बार मेरा नमस्कार हो।

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥७५॥

साधुपरमेष्ठी— जो व्यापारसे विमुक्त है, चार प्रकारकी आराधनाओंमें सदा लीन रहता है, निर्ग्रन्थ एव निर्मोह है ऐसा ज्ञानीपुरुष साधु परमेष्ठी होता है। साधु शब्दका अर्थ है 'स्वशुद्धात्मानं साधयति इति साधुः।' जो शुद्ध आत्माको साधे उसे साधु कहते हैं। साधु १० प्रकार के होते हैं—प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण उपशमक अनिवृत्तिकरण उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक, उपशांतमोह, अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरणक्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक और क्षीणमोह। सयोगकेवली अरहंत परमेष्ठीमें है और अयोगकेवली भी अरहंत परमेष्ठीमें है। अभी जो १० के नाम बताये गए हैं उनमें जो क्रम बोला है उसमें यह जानना कि पहिले नम्बर से अगले नम्बरके साधुका परिणाम विशेष निर्मल होता है। ११ वें गुणस्थान वाले उपशांत मोह साधु जितनी कर्मनिर्जरा करते हैं उससे असंख्यातगुणी निर्जरा क्षपकश्रेणीमें रहने वाले अपूर्वकरण गुणस्थान वाले साधु करते हैं। देखिये वे कषायरहित हैं, और इसके अभी कषायोंका विनाश नहीं हुआ है, किन्तु कर्मोंके क्षय करने का जो कदम है परिणाम है वह बड़ी विशिष्ट जातिका होता है। साधु परमेष्ठी निरन्तर निज शुद्ध स्वरूपके अवलोकनरूप चैतन्यप्रतिपनमें

निरत रहा करते हैं।

साधुवोंकी निरारम्भता-- साधुजन समस्त बाह्य प्रकारके श्रमोंसे रहित क्यों हो जाते हैं ? इसका कारण यह है कि वे परमसंयमी साधुपुरुष नित्य शुद्ध निज परमपारिणामिक भावकी भावनामें परिणत रहते हैं। मैं क्या हूं--इसका स्पष्ट निर्णय और इसकी स्पष्ट झलक साधुवोंमें बनी रहा करती है। यह परमपारिणामिकभाव त्रिकाल निरावरण है। जीव का जो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है उस पर यदि आवरण हो तो जीवका अभाव ही हो जायेगा। यह पारिणामिक भाव सहजसत्त्व रूप है, सर्व पर और परभावोंके लेपसे रहित है, ऐसे साधु चैतन्यस्वरूपकी भावनामें परिणत साधुजन रहा करते हैं, इस कारण साधुगण बाह्य व्यापारोंसे रहित होते हैं, वे आरम्भ और परिग्रह नहीं करते हैं, आरम्भ करनेको उनका चित्त ही नहीं चाहता, यद्यपि साधुजनोंके जब तीव्र क्षुधा होती है, भूख लगती है तो आगमोक्त विधिके अनुसार अपनी मुद्रा सहित नगरमें जाते हैं और कोई पड़गाह ले विधि सहित, आदर सहित तो वहां आहार कर लेते हैं। इतनी क्रियाएँ तो वे कर लेते हैं परन्तु भोजनमें इतना अनुराग नहीं है कि वे अपने हाथसे बनावें। ऐसी रुचि, आसक्ति साधुवोंमें भोजनकी नहीं होती है। भिक्षा भोजन करनेमें और अपने आप भोजन बनाकर खानेमें रुचिका अन्तर अवश्य होता है। यों ६ कायोंकी हिंसासे विरक्त साधुजन भोजनविषयक आरम्भ भी नहीं करते हैं।

साधुकी निरारम्भताके सम्बन्धमें शंका समाधान— एक शंका यहां यह की जा सकती है कि वे आरम्भ नहीं करते, आरम्भकी हिंसासे विरक्त हैं तो ऐसे यदि विरक्त हैं तो जो आरंम्भ करके भोजन बनाएँ उनका भी भोजन न करना चाहिए। यह क्या बात है कि खुद तो बन गए बड़े उजले और दूसरे आरम्भ करें, उनके यहां आहार करने जायें तो क्या उसमें आरम्भका दोष नहीं लगता है ? इसका समाधान यह है कि श्रावकजन एक नियम ले रखते हैं कि मैं प्रत्येक दिन शुद्ध भोजन करूँगा और भोजन करने से पहिले साधुसंतोंको पड़गाह कर, आहार कराकर भोजन करूँगा। किसीके रोजका नियम होता है, किसीके एक दिनका नियम होता है। साधुजन उस घर यह देख लेते हैं कि यह आहार केवल मेरे लिये ही बना है तो वे आहार नहीं लेते हैं। श्रावक रोज आरम्भ करते हैं, उन्हें रोज भोजन बनाना पड़ता हैं, खाते हैं, कदाचित् शुद्ध भावना करके, सावधानी सहित भोजन बना लें तो श्रावकोंने गुण किया या अवगुण किया ? न बनाएँ शुद्धतापूर्वक भोजन किसी दिन तो असावधानी और

अशुद्धता से ही तो वह भोजन बनायेगा, उसकी अपेक्षा तो श्रावकने गुण किया है, साधुजन यदि यह देख लें कि केवल मेरे लिए भोजन बनाया है तो उसे वे ग्रहण नहीं करते हैं। भूख रोगकी शांतिके लिए इतना प्रतिकार तो उनका हो जाता है, पर स्वयं बनाएँ तो उसके लिए सामान जोड़ेंगे और फिर सामानकी रक्षा करना पड़ेगी, तो जहां इतनी बातें बढ़ जायें फिर वहां आत्मसाधनाका अवसर ही कहां मिलेगा ? इससे साधुजनोंमें भिक्षा भोजनकी पद्धति होती है।

साधुवोंकी मनोगतिके सम्बन्धमें शंका समाधान—शंका, जब बाह्यमें कुछ श्रम तो करनेको रहा नहीं, न रोजिगार करना है, न भोजनके साधन जुटाना है, न कोई बर्तन रखना है, वही है एक पिछी और कमण्डल जो कि संयम और शुद्धताके उपकरणके लिए आवश्यक है। फिर वे करते क्या रहते हैं ? गृहस्थजन तो बेकार होने पर एक घंटा भी समय नहीं गुजार पाते हैं और वे साधुजन २४ घंटा समस्त व्यापारोंसे विमुक्त हैं, ऐसे वे ठलुवा बेकार, जिनको शरीरसे किसी भी प्रकारका आरम्भ नहीं करना होता है वे साधुसंत जन क्या किया करते हैं ? समाधान, वे चार प्रकारकी आराधनामें लीन रहा करते हैं। करता तो कोई भी बाहरमें कुछ नहीं है, जो गृहस्थजन हैं वे भी बाहरमें कुछ नहीं किया करते हैं, वे अपने आपमें अपना परिणाम बनाया करते हैं। किसी न किसी बातकी आराधना गृहस्थ भी किया करते हैं। आराधनाके सिवाय गृहस्थ भी कुछ नहीं किया करते हैं, तो साधु भी आराधनाके सिवाय और क्या करें ? गृहस्थोंकी आराधना है साधुवोंसे विचित्र विलक्षण धनकी आराधना, इज्जतकी आराधना, मकान दुकानकी आराधना। वे विषयके साधनोंकी आराधनाको करते हैं। वे भी किसी न किसी ओर उपयोग बनाए रहते हैं। साधुसंत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चारकी आराधनामें रहा करते हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, कैसा यह सहजज्ञान प्रकाश है ? यह ज्ञानप्रकाश ही मेरे निरन्तर रहा करे, यही समस्त आनन्दका श्रोत है—ऐसे परम शरणभूत निज ज्ञायकस्वभावकी आराधनामें वे साधु रहा करते हैं।

साधु संतोंकी आराधना— परमज्ञानस्वरूप निजतत्त्वकी श्रद्धा हो उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। उसकी आराधनामें अथवा निज सहजस्वरूप जो अन्तर्मुखतया अवलोकन है, जो अन्तर्मुख चित्प्रकाश है वह है दर्शन इस दर्शनमें आत्माको कोई झंझट ही नहीं रहा, ऐसे दर्शनकी आराधनामें साधुजन रहा करते हैं। ज्ञान और दर्शनकी स्थिति मेरे निरन्तर बनी रहा करती करे, ऐसो हम आपकी भावना रहनी चाहिये। केवल ज्ञाता द्रष्टा

रहनेमें शुद्ध आनन्द जगता है। आनन्द ही इस जीवका चरम ध्येय है। ऐसे ज्ञाताद्रष्टा रहने की भावनामें साधुजन लीन रहा करते हैं। इन तीनों की आराधनाकी साधनाके लिए, उन साधनोंके बाधक विषय-कषायोंकी मुक्तिके लिए वे नाना प्रकारके तपश्चरण करते हैं। उन तपश्चरणोंमें इसे अलौकिक लाभ प्राप्त होता है। उस लाभके लिए साधुसंतजन तपकी आराधना किया करते हैं।

साधुओंकी निर्ग्रन्थता—ये साधु परमेष्ठी निर्ग्रन्थ होते हैं, ग्रन्थ नाम परिग्रहका है, ग्रन्थि नाम गांठका है। जैसे डोरोंमें गांठ लगा दी जाती है, वह जकड़ जाती है उससे फिर रस्सी मुक्त नहीं हो पाती है यों ही जो भावोंमें गांठ रहती है वह ग्रन्थि है। परिग्रहका भी नाम गांठ है। इसमें जकड़ा हुआ प्राणी संकटसे मुक्त नहीं हो पाता। जो चारों ओरसे ग्रहण करले उसे परिग्रह कहते हैं। ये परिग्रह २४ प्रकारके होते हैं, १० तो बाह्य परिग्रह और १४ आभ्यन्तर परिग्रह। साधु परमेष्ठी २४ प्रकारके परिग्रहोंसे विरक्त रहते हैं, दूर रहते हैं, जिन्हें केवल आत्मसाधनासे ही प्रयोजन रह गया है ऐसे पुरुष कैसे खेत मकान, धन धान्य, दास दासी, वस्त्र बर्तन रखेंगे, कहां लादे फिरेंगे ? उन्हें तो अपने शरीरका लादना भी नहीं सुहाता है, पर शरीर कहां मिटाया मिटता है ? यों प्राणघात करके शरीर मिटा दिया तो नया शरीर मिलेगा। शरीर सदाके लिए मिट जाय इसके उपायमें प्राणघातकी उतावली नहीं की जाती है, किन्तु मैं देहरहित हूं, ऐसे देह रहित निज ज्ञानस्वरूपकी भावनाके बलसे कभी यह देह आत्मा से सदाके लिए दूर हो जाता है। किसी दुष्टसे पाला पड़ा हो तो उतावली में काम बिगड़ जाता है। वहां तो धीरे-धीरे धीरतासे गम्भीरतासे काम लिया जाता है। ये साधुपरमेष्ठी १० प्रकारके बाह्य परिग्रह और १४ प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रहसे विमुक्त हैं। १० प्रकारके परिग्रह हैं ये मकान, धन, रुपया पैसा रकम वगैरह धान्य, अनाज, दास दासी, सोना, चांदी वस्त्र और बरतन भांडे—इन १० प्रकारके बाह्यपरिग्रहोंसे साधुवोंका कोई प्रयोजन ही नहीं रहा।

साधुवोंकी निर्विकारता—वे साधुजन निर्विकार होते हैं। जो साधुवोंके गुणोंको पहिचानते हैं वे साधुके परमउपासक हो जाते हैं। अज्ञानीजन तो उनके रूपको देखकर निन्दा किया करते हैं। ये नग्न रहते हैं, इन्हे लाज भी नहीं आती है। पर जो साधुके अन्तरंग गुणोंमें प्रवेश कर गये हैं वे ही इनका महत्त्व आंक सकते हैं—ओह ये मंद कषायी हैं, इनकी दृष्टि शुद्ध सहज ज्ञायकस्वरूप पर रहा करती है। ये साधु ज्ञानमात्र

आत्मतत्त्वकी प्रतीति रखते हैं, इन्हें किन्हीं भी विषयोंकी आशा नहीं रही है, विषयोंकी इच्छा नहीं रही है। ये साधु मोक्षमार्ग की आराधना किया करते हैं। ज्ञानी भक्तकी दृष्टि साधुके गुणोंपर रहती है। ये परमेष्ठी १० प्रकारके बाह्य परिग्रहोंसे तो अत्यन्त दूर रहते हैं ही, साथ ही विशेषता आभ्यन्तरपरिग्रह मुक्तिकी है। आभ्यंतर १४ परिग्रह हुआ करते हैं— मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। इन १४ प्रकारके परिग्रहोंक व्यक्तरूप छठे गुणस्थानमें भी नहीं रहता है। कषायोंका इतना मंद परिणमन रहता है कि जिससे उनके सम्यक् धर्म, संयममें बाधा नहीं आती है। और फिर वे इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनाके बलसे रहे सहे गंदे परिणमनोंको भी समाप्त कर देते हैं। ये साधु परमेष्ठी इन २४ प्रकारके परिग्रहोंसे विमुक्त हैं।

वास्तविक कृत्य और वैभव— भैया ! इस लोकमें करने योग्य काम क्या है खूब परखिये। मकान बनवाकर क्या करोगे ? दुकान बनवाकर क्या करोगे ? करना पड़ता है सो करिये। पर अंतरंगमें यह श्रद्धा तो रखिये कि ये जड़ पौद्गलिक ही मेरे लिए सब कुछ नहीं हैं, इनसे इस आत्माका कुछ भी लाभ न होगा। कविजन कहते हैं कि लक्ष्मीका नाम दौलत इसलिए रक्खा गया कि इसके दो लातें होती हैं। सो जब लक्ष्मी आती है तो यह छाती पर लात मारकर आती है, जिससे छाती कड़ी और गर्ववाली हो जाती है और जब लक्ष्मी जाती है तो पीठमें लात मार कर जाती है जिससे फिर वह दीन, झुकी कमर वाला, कांतिरहित हो जाया करता है। वास्तविक लक्ष्मी तो आत्माकी ज्ञानलक्ष्मी है। निज शुद्ध स्वरूपका परिज्ञान रहा करे उससे बढ़कर वैभव लोकमें अन्य कुछ नहीं है। ये साधुपरमेष्ठी इन सर्व प्रकारके बाह्य झंझटोंसे, व्यापारोंसे, परिग्रहोंसे मुक्त रहा करते हैं।

निर्मोहता— साधु परमेष्ठी अत्यन्त निर्मोह हैं। मोह हुआ करता है अपने आपके परिणामोंमें, परवस्तुमें कोई मोह कर ही नहीं सकता। अज्ञानीजन, मिथ्यादृष्टि पुरुष जो भी मोह कर रहे हैं वे परवस्तुमें मोह नहीं कर रहे हैं, परवस्तु तो उसके मोह परिणामका विषय बन रहा है। मोह तो सब अपने आपकी भावनामें कर रहे हैं। मिथ्यात्व श्रद्धा गुणका विपरीत परिणमन है। श्रद्धा गुण आत्मप्रदेशमें ही है। अपने श्रद्धागुणका जो भी परिणमन हो वह आत्मप्रदेशसे बाहर कहां रह सकेगा ? वहां तो आधार ही नहीं है। श्रद्धा गुणका विपरीत परिणमन भी आत्मप्रदेशमें

रहता है। और वहां भी वास्तवमें वह चारित्र मोहके विकारोंको अपनाता है, यही मिथ्यात्व परिणमन है। चारित्रके विकार हैं रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, तृष्णा, असंतोष इन सब भावोंको अपनाते रहना, यह मैं हूं, इनसे ही मेरा हित है ऐसा उनको अपना स्वरूप बनाया करना, यही जीवका मिथ्यात्व परिणमन है। बाहरमें कहां मोह है किसीसे ? तब यों कहो कि अपने आपके स्वरूपके सम्बन्धमें मिथ्या श्रद्धान हो, मिथ्याज्ञान हो और मिथ्या आचरण हो, अथवा विषय कषायरूप परिणमन हो यही मोह हुआ। साधु संतोंके ये अज्ञान परिणाम नहीं होते हैं, इस कारण उनके मोह नहीं है, वे निर्मोह हैं।

शुद्ध विकासका उपाय— मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रसे रहितपना कैसे बना जाता है ? उसका सीधा उत्तर है कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्ररूप परिणमन हो। जहां यह रत्नत्रयरूप परिणमन होता है वहां यह मिथ्यात्रय रहता ही नहीं है। यह विशुद्ध परिणमन परभावोंसे शून्य निज कारणसमयसार स्वरूप अंतस्तत्त्वके अवलोकन, परिज्ञान और आचरणकी स्थितिसे हुआ करता है। ये साधुपुरुष निज सहज स्वभावके ग्रहणसे सर्व प्रकारके मोहसे अत्यन्त विमुक्त हैं, ऐसे ये साधु परमेष्ठी हम आप सबके वंदनीय हैं।

साहू और साहूकारी— साधुवोंकी दृष्टि परम निर्माणकी ओर रहती है। जैसे लौकिक जनोंकी रुचि अनेक शोभावोंसे सज्जित कामनी की ओर रहती है, वे लौकिक पुरुष जैसे सुन्दर रूपके देखनेके कौतूहली रहा करते हैं, उसके विपरीत ये साधुजन परमनिर्वाणकी शोभा कलाके कौतूहली रहा करते हैं। श्रमणोंकी केवल एक ही धुन है सदा मुक्त निज शाश्वत स्वभावकी उपासना करना और इस उपासनाके फलमें निर्वाणको आनन्द प्राप्त करना। साधुसंतका जीवन इसी कारण सार्थक है, जो आत्मस्वभावको साधे उसे साधु कहते हैं। साधु शब्द बड़ा मनोज्ञ शब्द है। साधु शब्दका पर्याय है साहु और श्रेष्ठपुरुषोंमें साहु शब्दकी प्रसिद्धि हो गई। साहू, साह, साहूकार। साहूकारी नाम किसका है ? आत्मस्वभावको सिद्ध करने वाले पुरुषार्थको साहुकारी कहते हैं। लोकमें उसे साहुकार माना जाता है जिसके धन वैभव हो, लेन देन होता हो, ब्याजकी बड़ी आमदनी हो। पर साहूकारीका सही अर्थ यह है कि निज आत्मस्वभावके दर्शन करने वाली दृष्टिका रहना, स्वभावका आश्रय करना, विषय विकारोंसे परे रहना, अपने आपके गुणोंका शुद्ध विकास करना, आत्मसमृद्धि पाना अर्थात् साधुका कर्तव्य। जो साधुका कर्तव्य है वही वास्तविक साहू-

कारी है।

समृद्धि और समृद्धिके अर्थ प्रयोग— सर्वोत्कृष्ट समृद्धि है परम निर्वाण। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे सदाके लिए छुटकारा पा लेना, इसे कहते हैं परमनिर्वाण। ऐसे साधुपुरुष नित्य आत्मस्वभावकी आराधनामें लीन रहते हैं। साधु पुरुषका आशय इतना विशुद्ध होता है कि वहां राग-द्वेषकी कणिका नहीं रहती है। वे संसारके सुखोंको त्यागकर सर्व संगोंके सम्बन्धसे मुक्त रहकर निरन्तर आनन्दमय आत्मतत्त्वमें विभोर रहा करते हैं। सिद्ध परमेष्ठीसे तो हम लोगोंका कुछ व्यवहार ही नहीं चलता, पर उनके गुणोंका स्मरण कर हम लाभ प्राप्त करना चाहें तो प्राप्त कर सकते हैं। अरहंत परमेष्ठी जिस समयमें अरहंत हुआ करते हैं उस क्षेत्रमें जो जीव हों उनको दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवणमात्रका व्यवहार रहता है। ऐसे भी अरहंत परमेष्ठीका सदा समागम नहीं रहता है। आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी—इन तीन परमेष्ठियोंको समागम विशेष रहा करते हैं। हम अपने चारित्रको प्रयोजनात्मक प्रगतिशील तब कर सकते हैं जब हम इन परमेष्ठियोंके सत्संगमें रहते हैं। इस कारण सुगम शीघ्र उपकारकी दृष्टि से हमें इन गुरुवोंकी उपासना बहुत लाभदायक है। ऐसे साधुपुरुष सदा वंदनीय हैं। अब यहां तक व्यवहार चारित्रके पालनके प्रतापसे कैसा कैसा आत्माका विकास हुआ है, इस प्रसंगमें पंचपरमेष्ठीका स्वरूप कहा गया है। अब अंतिम गाथामें जो व्यवहारचारित्रसे और आगे चलकर निश्चयचारित्रकी संधि करने वाली है ऐसी गाथाको आचार्य देव कह रहे हैं।

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

दो अधिकारोंका संधिरूप विवरण— जैसा कि उक्त प्रकरणोंमें कहा गया है इस प्रकारकी भावनामें व्यवहारनयका चारित्र होता है। निश्चयनयके अभिप्रायसे चारित्र क्या है? इस बातको अब आगे कहेंगे। आपने समझा ही होगा कि यहां व्यवहारचारित्रके वर्णनमें भी निश्चयचारित्रकी झलक प्रदर्शित की गई है, कारण यह है कि निश्चयचारित्रके सम्बन्ध बिना वास्तवमें बाह्यचारित्रको व्यवहारचारित्र भी नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि उस बाह्यचारित्रका नाम भी चाहे निश्चयचारित्र न हो, व्यवहार चारित्र कहा गया है, किन्तु जो कार्यकारी व्यवहारचारित्र है और मोक्ष मार्गमें सहायक व्यवहारचारित्र है वह व्यवहारचारित्र नहीं बन पाता। यह गाथा व्यवहारचारित्रके व्याख्यानका उपसंहार करने वाली है और

निश्चय चारित्रके व्याख्यानकी सूचना देने वाली है।

निश्चयचारित्रका विषय परमपारिणामिक भाव—निश्चयचारित्र में आदिसे अंत तक सम्पूर्ण जीवोंके परम पारिणामिक भावका आश्रय रहता है और इसी कारण निश्चयचारित्र एक स्वरूप है। व्यवहारचारित्र में क्रियाएँ अनेक हैं—महाव्रत, समिति तथा गुप्तिका धारण व ६ आवश्यक आदि अनेक क्रियाएँ व्यवहारचारित्रमें होती हैं, पर निश्चयचारित्र केवल एक स्वरूप होता है। उसमें दृष्टिकी दृढ़ताके साधन तो होते हैं किन्तु विषयभेद नहीं होता। वह निश्चयचारित्र चाहे प्रमत्तविरतोंमें हो, चाहे अप्रमत्तविरतोंमें हो, सबका लक्ष्य केवल एक निज सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप रहता है। ज्ञाता दृष्टा रहनेकी स्थिति रखना यही परमार्थसे निश्चय चारित्र है। व्यवहारचारित्रके पालन करते हुए भी बीच-बीचमें यथा अवसर यह निश्चयचारित्र आता जाता है तो वह व्यवहारचारित्र अपने उद्देश्यमें सफल होता है।

व्यवहारचारित्रमें प्रशस्तरागकी प्रमुखता—व्यवहारचारित्रमें अतिप्रशस्त शुभ भावकी प्रमुखता है जबकि निश्चयचारित्रमें समस्त राग रहित, समस्तविभाव रंगरहित निज आत्मतत्त्वमें उन्मुख होनेकी प्रमुखता है। ऐसी जो पहिलो बतायी गयीं अनेक शुभ भावनाएँ हैं उन सभी भावनावोंमें रहना सो व्यवहारचारित्र है। हाथ पैर की क्रियाएँ होना मात्र पौद्गलिक क्रियावोंके नाते से देखा जाय तो यह चारित्र न व्यवहार है और न परमार्थ है। जैसी जीवव्यक्त पुद्गलकी क्रियाएँ होती है ऐसी ये भी क्रियायें हैं! फर्क यह है कि ये क्रियाएँ चेतनके सम्बन्ध बिना नहीं हो रही हैं, पर इस गोष्ठीमें से चेतनका सम्बन्ध तो निरखा न जाय और केवल देहकी क्रियाएँ ही देखी जायें तो वह चारित्र ही नहीं है। इस प्रसंगमें जो शुभ भावनाएँ होती हैं महाव्रत व समितिका पालना, गुप्तिका धारण करना इन प्रसंगोंमें जो मन, वचन कायकी शुभ चेष्टाएँ होती हैं, स्वभावका अनुराग है, प्रशस्त शुभ भावना है वह सब व्यवहारचारित्र है।

चारित्रकी आत्मपरिणतिरूपता—आत्माके गुणोंकी परिणति ही चारित्र हो सकता है। पौद्गलिक देहादिककी परिणतिका नाम चारित्र नहीं है। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र ये तीनों गुण आत्माके हैं, देहके नहीं हैं। इस लिए देहकी क्रियावोंमें न श्रद्धान है, न ज्ञान है, न चारित्र है। आत्माकी क्रियावोंमें ही, परिणतिमें ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। तो जो शुभ रागमय भावना है वह तो है व्यवहारचारित्र और जो शुभ अशुभ राग रहित केवल स्वच्छ ज्ञानस्वरूप का अवलोकन है, आश्रय है वह है निश्चयचारित्र

निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र ये दोनों ही परिणतियां हैं। अब मोक्षमार्ग के प्रकरणमें निश्चयचारित्रके स्पर्श सहित जो व्यवहारचारित्र होता है वह तो कार्यकारी माना गया है और निश्चयचारित्रके स्पर्शनसे रहित जो आत्मपरिणतिरूप शुभ भावना भी चले तो भी वह मोक्षमार्गके लिए कार्यकारी नहीं हैं, क्योंकि अज्ञानभाव रहते हुए शुभ रागकी भावना भी कर्मनिर्जरा करनेमें सफल नहीं हो सकती है।

व्यवहारचारित्रमें प्रशस्त अनुराग— व्यवहारचारित्र में १२ प्रकार के चारित्र और परमेष्ठीका ध्यान - इन दोनोंमें अनुराग रहता है। बिना शारीरिक क्रियावोंमें आये हुए महाव्रत, समिति, गुप्ति जो वस्तुतः महाव्रत समिति, गुप्ति हो ही नहीं पाते हैं, उनमें अनुराग करना, यह प्रशस्त राग नहीं है, अज्ञानसहित जितने भी राग हैं वे सब राग अतिप्रशस्त राग नहीं कहलाते हैं। यद्यपि लड़ाई झगड़ेकी अपेक्षा ये सब राग प्रशस्त राग हैं, लेकिन मोक्षमार्गमें जिनको शामिल किया जा सके, ऐसे ये प्रशस्त राग नहीं है। निश्चय अहिंसा महाव्रत और व्यवहार अहिंसा महाव्रतमें जो शुभ अनुराग है, प्रशस्त अहिंसामहाव्रत का अनुराग है, ऐसे ही निश्चयरूप सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग महाव्रत और व्यवहाररूप सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग महाव्रत इनके अनुरागका होना भी प्रशस्त अनुराग हैं। प्रयोजनभूत बातें तो इतनी है कि उन सब क्रियावोंमें बीच बीच झलक निश्चयकी होती रहनी चाहिए।

निश्चयकी संगतिसे व्यवहारका सामर्थ्य— जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मस्वरूपकी ओर नहीं है जो कि ज्ञानसाध्य बात है तब ऐसे अज्ञानमय भावमें रहते सहते जो भी भावना चलेगी, जो भी देहकी परिणति चलेगी वह सब एक दिल बहलाने वाली परिणति है। वहां मार्गमें संक्रमण, निर्जरण, संवरण आदि कोई प्रयोजक बातें हो सकें सो नहीं हो सकता है। इस मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत शुभोपयोगमें शुद्धतत्त्वके उपयोगका साथ अवश्य है। और इसी कारण जब हम भगवद्भक्ति करते हैं तो भले ही एक शुभ अनुरागसे हम भगवान्की भक्ति करते हैं पर उस भक्तिसे बीच-बीच जो उनके शुद्ध गुणविकासका अवलोकन होता है और उनके शुद्ध स्वभावका दर्शन होता है उस निश्चय अंशकी संगतिके कारण यह भगवद् भक्ति कर्मनिर्जराका कारण बन जाती है और इसी कारण सिद्धान्तशास्त्रमें भगवद्भक्तिको, कर्मनिर्जराका कारण बताया है। वादिराज मुनिने एकीभाव स्तोत्रमें यह भी कहा है कि शुद्ध ज्ञान हो जाय, शुद्ध चारित्र हो जाय फिर भी हे प्रभो! यदि आपकी उत्कृष्ट भक्ति नहीं जगती है तो मोक्ष महल

के आवरक मोह कपाट जो लगे हुए हैं, उसमें जो पर्यायबुद्धिका ताला लगा हुआ है उसकी कुंजी ही उसे नहीं मिली, मोक्ष महलके किवाड़ोंका ताला खोलनेकी कुंजी तो भगवद्भक्ति है।

प्रभुभक्तिका उपकार— यह प्रभुभक्ति सर्वप्रथम हम आपको शरण होती है और जैसे जैसे हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, शुद्ध स्वभावके निकट पहुंचते जाते हैं वैसे ही वैसे यह प्रभुभक्ति स्वभावभक्तिका रूप रख लेती है और अंतमें यह भक्ति स्वभावमें अभेदरूप बन जाती है, वहां फिर भक्त और प्रभुका भेद नहीं रहता। अपने आपमें स्वभावका और उपयोगके ग्रहणका भी भेद नहीं रहता है। वहां भी एक निर्विकल्प परिणाम होता है। यह भक्ति अंतमें अभेद भक्तिरूपसे अवस्थित हो जाती है। प्रभुभक्तिके प्रतापसे पापकर्मोंकी तो निर्जरा होती है, साथ ही पुण्यरसकी वृद्धि होती है, स्वभावदृष्टिका अवसर होता है। यों कितना आसान तरीका है धर्ममार्ग में बढ़नेका? इसके लिए जो भी बातें उपयुक्त हैं, आवश्यक हैं उन सब बातों में इसका प्रवेश हो जाता है।

प्रभुभक्तिसे सिद्धि— भैया! क्या चाहिए इस जीवको? कठिन विपत्ति न सताये, असुविधाएँ न बनें, सुविधाएँ प्राप्त हों और शुद्धभावना बनें, इन सबकी एक साथ साधना करने वाला कोई उद्योग है तो वह है प्रभुभक्ति। शुद्ध भावनासे जो इस पंचनमस्कार मंत्रकी भावना करता है उसके अवश्यमेव अभीष्ट कार्यकी सिद्धि होती है। होनी चाहिए शुद्ध भावना। अब भी बहुतसे श्रद्धालुजन इस नमस्कार मंत्रकी आराधनासे अपनी सर्व विपत्तियां समाप्त कर लेते हैं।

शरण— जैसे किसी बच्चेको कोई दूसरा सताये तो वह बच्चा अपने मांकी शरण लेता है, मां की गोदमें जाकर छिपता है और किसी बड़े बच्चेको कोई सताये तो वह अपने पिता की गोदकी शरण लेता है, किन्तु हम आप इन संसारी प्राणियोंको ये कर्म सतायें, ये जन्म मरण सतायें, ये नाना प्रकारकी विडम्बनाएँ सतायें तो यह तो बतावो कि हम आप किस की गोद ढूँढें ताकि इन सब विपत्तियोंसे दूर हो सकें? ये माता, पिता कुटुम्ब, रिश्तेदार, परिजन इनकी गोद हम आपके शरण होगी क्या? अरे ये खुद दुःखी हैं, दुःखमें पड़े हुए हैं। ऐसी स्थितिमें हम आपको शरण मिल सकती है तो यह निज शुद्ध आत्माकी शरण ही अपनेको मिल सकती है। इसीका स्मरण हो तो शरण मिल सकती है। इसीको कहते हैं परमेष्ठिभक्ति। यों चारित्रके पालनमें और परमेष्ठिभक्तिमें व्यवहारचारित्रकी समृद्धि होती है। अब आगे निश्चयचारित्रका वर्णन

चलेगा।

व्यवहारचारित्रमें निश्चयचारित्रकी छाया— इस अधिकारमें व्यवहारचारित्रका वर्णन किया है। ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, इस प्रकार १३ प्रकारके चारित्रोंका वर्णन किया है। इन ही १३ प्रकारके चारित्रोंके माननेके कारण तेरापंथ नाम पड़ा है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि हम तेरापंथी हैं उसका अर्थ है कि १३ प्रकारका चारित्र मोक्षका साधक मार्ग है, इस प्रकारकी मान्यता वाले और यत्नके उत्सुक हम हैं। यह व्यवहारचारित्र, निश्चयचारित्रके बल पर प्रतिष्ठित रहता है। निश्चयचारित्रशून्य व्यवहारक्रियाको चारित्र संज्ञा केवल उपचारसे दी जाती है। यह निश्चयचारित्र ही उत्कृष्ट चारित्र है। आत्मा अपने आपसे हटकर बाह्य पदार्थोंमें लगकर विह्वल हो रहा है, आकुलित हो रहा है। इसकी आकुलताके मिटनेका उपाय ही केवल यह है कि बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने आपके स्वरूपमें स्थिर हो जाय, इस ही का नाम निश्चयचारित्र है।

व्यवहारचारित्रका प्रयोजन निश्चयचारित्रकी साधना— व्यवहारचारित्रका प्रयोजन निश्चयचारित्रकी साधना है। जैसे व्यवहारचारित्रमें जो कुछ किया जाता है, कोई मुनि चले देख भालकर तो चलनेके लिए वह नहीं चला, वह निश्चयचारित्रकी सिद्धिके ध्येयसे चला। उसने जो कुछ किया वह निश्चयचारित्रकी सिद्धिके लिए किया। जैसे यहां कोई भी पुरुष गृहस्थ धनके लिए धन नहीं कमाया करते हैं किन्तु इज्जतके लिए धन कमाते हैं। बड़े आडम्बर ठाठ बढ़ाते हैं, वे ठाठके लिए ठाठ नहीं बढ़ाते हैं, अपनी इज्जतके लिए ठाठ बढ़ाते हैं। जैसे यहां गृहस्थोंका जितना भी करने धरनेका प्रयोजन है वह सब इज्जतके पोषणके लिए है। उनका सर्वोत्कृष्ट एक ही ध्येय रहता है। जो साधारणतया गृहस्थ हैं उनकी बात कही जा रही है। यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु सामान्यतया जो गृहस्थ परिपाटी है वह इस बुनियाद पर बढ़ी चली जा रही है कि वे धन कमायें तो इज्जतके लिए, जो कुछ भी कार्य करना चाहते हैं अपनी इज्जतके लिए। एक इज्जतका उद्देश्य न रहे फिर इसके बाद केवल दो रोटियोंका ही तो प्रयोजन रह गया। दो रोटी खानेको मिल जायें; क्षुधा, तृष्णाकी शांति हो जाय। क्या क्षुधा तृष्णाकी शांति हो इतने मात्रके लिए इतने कर्तव्य यह पुरुष करता है? आप सब इस बात को परख सकते हैं कि जो कुछ भी यह गृहस्थ करना चाहता है वह इज्जत की वृद्धिके लिए करना चाहता है। यों ही समझो साधुवोंकी बात। वे जो भी करना चाहते हैं सब निश्चयचारित्रकी सिद्धिके लिए करना

चाहते हैं।

साधुके विहारका प्रयोजन— साधु खेल देखनेके लिए विहार नहीं करते हैं, उनके विहारका प्रयोजन निश्चयचारित्रकी सिद्धि है। उनके विहारका प्रयोजन है विहार न करना पड़े। अविहारस्वभावकी दृष्टिके लिए, अविहारस्वभावमें स्थिरता पानेके लिए वे विहार करते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि पुरुष भोगोंसे निवृत्ति पानेके लिए भोग भोगता है। इसे अज्ञानी पुरुष मान नहीं सकते हैं तो अच्छा एक दृष्टान्त और लो, जैसे रोगी पुरुष औषधि खानेके लिए कड़वी औषधि नहीं खा रहा है, उसे छोड़नेके लिए खा रहा है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुष मैं इन भोगोंसे निवृत्त हो जाऊँ, ऐसी भावना सहित प्रवृत्त होता है। क्या करे वह उदयवश आ पड़ा है, उस प्रसंगमें लिपट गया है किन्तु उनसे निवृत्तिका उसके अन्तरमें भाव रहता है। ऐसे साधु संत पुरुष जो भी व्यवहार किया करते हैं वे व्यवहार क्रियाके अनुरागसे नहीं करते हैं किन्तु ये क्रियाएँ करना भी मेरे आत्माका स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो शुद्ध ज्ञानानन्दका अनुभवन मात्र है, मैं उस ज्ञानानन्द सहजस्वभावको ही देखूँ, यह निरन्तर भावना रहती है और इसकी सिद्धिके लिए वह समस्त व्यवहारकार्य करता है।

विहारका प्रयोजन रागद्वेषका परिहार— सीधा समितिसहित चलना, उठना, खाना, बोलना व्यवहार करना भी होता रहे, किन्तु तप करनेका लक्ष्य नहीं मालूम है तो कैसे कहा जा सकता है कि वह कर्मोंकी निर्जरा कर सकता है? हम साधु हैं, साधुको देख भालकर चलना चाहिए इस कारण मैं देखकर चलूँगा, ऐसे रागसे जो चलता है उसने अपना लक्ष्य ही नहीं साधा है। क्या चलते रहने के लिए चलता है? अरे यह चलना मेरे आत्माका स्वरूप नहीं है, मैं अविहारस्वभावी हूं, किन्तु क्या करूँ, ऐसी विकट परिस्थिति है कि मैं यहां बना रहूं तो रागद्वेषकी उत्पत्तिकी सम्भावना है। अतः अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थिर रह सकें, ऐसे ज्ञानस्वरूपकी स्थिरताकी पात्रता बनी रहे, इसलिए विहार कर रहा हूं। इस उद्देश्यसे वे चल रहे हैं। चलने के लिए नहीं चल रहे हैं।

साधुके आहारका प्रयोजन— साधुसंत भोजनके लिए भी चर्या करते हैं, पर भोजनके लिए वे भोजन नहीं करते हैं। जैसे अज्ञानीजन एक स्वादकी मौज लेनेके लिए भोजन करते हैं अथवा पेट भरे, सुखसे रहें, मौजसे रहें, इसके लिए आहार ग्रहण करते हैं। साधुजन इसके लिए आहार ग्रहण नहीं करते हैं। वे ऐसा चिंतन करते हैं, इस आत्माका तो केवल ज्ञान भाव और आनन्दभाव स्वरूप है, न शरीर का सम्बन्ध है और

न यहां कोई भूखकी गुञ्जायश है, किन्तु अनादिसे भ्रम बुद्धिके कारण जो खेल बन रहे हैं शरीर ग्रहण करना, भूख लगना आदिक जो कुछ रचना चल रही हैं उस लपेटमें आया हुआ यह मैं क्या करूँ ? यदि क्षुधाकी वेदनाको शांत न करूं तो असमयमें ही इन प्राणोंका वियोग हो सकता है और असमयमें प्राणवियोग हो जाने पर आगे फिर शरीर मिलेंगे और फिर वही विडम्बना चलेगी। यह शरीर भी मेरे न रहो, इसका अनाहार स्वभाव है, सबसे विविक्त केवल ज्ञानरूप रहना इसका सहजभाव है, ऐसी मेरी परिणति बने इस उद्देश्यसे उन्हें आहार ग्रहण करना पड़ रहा है।

ज्ञानीके वचनव्यवहारका प्रयोजन— ज्ञानी बोलता है दूसरोंसे, तो बोलनेके लिए नहीं बोलता है, किन्तु जिस बोलनेसे आत्मकल्याणका सम्बन्ध है वही बोल बोलते हैं। धर्मोपदेश भी देते हैं साधुजन, लेकिन अपना व्यक्तित्व जाहिर करना है इस दृष्टिसे नहीं, वे तो जो कुछ कह रहे हैं अपने आपको कह रहे हैं, ऐसी उन्मुखता उनके धर्मोपदेशमें होती है। अथवा जैसे कि स्वयंको पहिचाना है कि आनन्दका मार्ग है तो कुछ परम करुणा उत्पन्न होती है तो अपने आपसे सम्बन्ध न तोड़कर, अपनी आत्मदृष्टिको न तोड़कर, उपदेश देते हैं। उनका देशनासे भी प्रयोजन नहीं, उनका प्रयोजन तो निश्चयचारित्रकी सिद्धि है। वे जो कुछ करते हैं, करना पड़ता है, प्रयोजन उनका प्रत्येक क्रियामें निश्चयचारित्रकी सिद्धिका है। यों उनके व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्रकी साधनाके लिए है।

निर्वाणके कारणभूत निश्चयचारित्रके वर्णनका संकल्प— सो अब आचार्यदेव यहां कह रहे हैं कि व्यवहारचारित्रका तो वर्णन किया है, अब आगे निश्चयचारित्रका वर्णन करेंगे, जिसके सम्बन्धके बिना व्यवहारचारित्रसे कर्मनिर्जराकी सिद्धि नहीं होती है। यह निश्चयचारित्र गतिरहित अवस्थाका कारण है। इस गतिरहित अवस्थाकी पंचम गतिके नामसे भी प्रसिद्धि है। कोई ५ वीं गति नहीं है। गति तो ४ ही हैं। गतिके मायने अवस्था। एक ५ वीं अवस्था है। साहित्यमें तो मरणका नाम भी ५ वीं गति बताया है लोक व्यवहारमें। जैसे लोग कहते हैं कि यह पंचत्व को प्राप्त हुआ, पंचगतिको प्राप्त हुआ-मायने मर गया। मोक्षमार्गके प्रसंग में जन्ममरणरहित होनेका नाम पंचमगति है। तो उद्देश्यवश उसका अर्थ लगाया जाता है। संसारमें ४ गतियां हैं। उन चारों गतियोंसे विलक्षण गतिरहित है जहां कभी रंच भी आकुलता न होगी, ऐसी उस निर्वाण दशाको पंचमगति कहते हैं।

निर्वाणके कारणभूत भाव व निर्वाणके कारणभूत भवोंका विषय—

आत्माके ज्ञानानन्दस्वभावको निरखकर, अपने को ज्ञानमात्र जानकर उस ज्ञानानन्दमात्र स्वरूपमें ही रमण करे—यही है निश्चयचारित्र। यह निश्चयचारित्र शुद्ध जीवत्व पारिणामिक भावकी दृष्टि बिना नहीं उत्पन्न होता है। इस कारण जो जीवके स्वतत्त्वोंमें पंचम तत्त्व है उस पंचमभाव की दृष्टि रहे, उस दृष्टिमें यथापद औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव प्रकट होता है और उस पंचमभावसे सम्बन्ध रखते हुए ये तीन भाव निर्वाणके कारण पड़ते हैं। यों ज्ञानी संत निश्चयचारित्रका ग्रहण करते हैं, अतः निश्चयचारित्रके परम्परया कारणभूत व्यवहारचारित्र के बाद अब ५ वें अधिकारमें निश्चयचारित्रका वर्णन आयेगा। यह निश्चयचारित्र मोक्षका परम कारण है, जिस चारित्रके बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी बना रहे तो क्षेत्रसंसर्गादि वातावरणके बिना जैसे कोठेमें बीज पड़े हुए हैं, पड़े हुए हैं, वे अंकुरित नहीं हो सकते। यों ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तब तक सफलीभूत नहीं हो पाते जब तक निश्चय चारित्रमें प्रगति नहीं हो पाती।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी युगपत् उत्पत्ति—ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र—तीनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। जिस कालमें सम्यग्दर्शन हुआ उस कालमें यह ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके होते ही किसी न किसी अंशमें अपने स्वरूपका आचरण हुआ करता है। यों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण ये तीनों एक साथ होते हैं। सम्यग्दर्शनसे पहिले वही ज्ञान जो बिलकुल सही रूपमें ही जान रहा था सम्यग्ज्ञान नहीं रहता।

सम्यग्दर्शनके साथ ही ज्ञानका सम्यक्पनापर दृष्टान्त— जैसे आपनें किसीने चर्चाएं खूब सुनी हैं। श्रवणबेल गोलमें बाहुबली स्वामीकी मूर्ति है, इतनी बड़ी है, ऐसा आकार है, ऐसी मुद्रा है, चित्रोंमें भी देखा है, कुछ मंदिरोंमें उस प्रकारकी प्रतिमाके दर्शन भी किये हैं, कहीं नाप तौल भी लिखी होगी, मूर्ति इतनी बड़ी है, हाथ इतने बड़े हैं, अंगुली इतनी बड़ी है। पैर इतने बड़े हैं, ऐसा सही सही जान रहे हैं, विपरीत नहीं जान रहे हैं। जो लोग बाहुबलिकी उस मूर्तिको देख आए हैं जैसी मूर्ति है वैसा ही जान रहे हैं, किन्तु जब इसे सुयोग मिले, वहां पहुंचे और उस मूर्तिके साक्षात दर्शन करे तो उस दर्शन करनेके समय जो दृढ़ता आती है अपने ज्ञानसे जितना जो कुछ समझा था उस बाहुबलिकी मूर्तिके सम्बन्धमें, उस समय क्या भाव होते होंगे? ओह यह है ठीक है। उसका दर्शन करके बाहुबलिकी प्रतिमाविषयक जो ज्ञान हुआ है, उस ज्ञानमें और दर्शनसे पहिले

जो बाहुबलिकी प्रतिमाविषयक ज्ञान हो रहा था इसमें कुछ अन्तर है कि नहीं ? यों ही आत्माकी बात है।

सम्यग्दर्शनके साथ ही ज्ञानका सम्यक्पना— यह आत्मा स्वकीय द्रव्य गुण पर्यायात्मक है, ज्ञानादिक अनन्त गुणोंका भंडार है, यह अपने स्वरूपसे परिणमता है दूसरेके रूपसे नहीं परिणमता। यह केवल ज्ञान प्रकाशमात्र है, बहुत-बहुत बातें जानीं। जाना यथार्थ जैसा कि स्वरूप है। एक तो यह जानन हुआ। अब वही पुरुष कुछ भेदविज्ञानके साधनसे, कुछ बाह्यपदार्थ विषयक संकल्प विकल्प हटा लेनेसे अपने आपकी ओर इसकी कुछ जाननेकी इच्छा होनेसे अब इसका जो अपने आपमें प्रवेश हो रहा है और वहां संकल्प विकल्प जाल छूटकर जो अपने आत्मस्वरूपका दर्शन हो रहा है उस दर्शनके बाद, उस अनुभवनके बाद, ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव हो चुकनेके बाद आत्मामें वे ही सब बातें, वही सब ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है, वह यही ज्ञानानन्दमात्र है। यों विशद बोध हो जाता है। आत्मदर्शनसे पहिलेका जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। हालांकि वह ज्ञान वही जान रहा है जैसा कि आत्मदर्शनके बाद जाना है किन्तु आत्मदर्शन हुए बिना आत्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। आत्मदर्शनके साथका आत्मस्वभावके बादका परिज्ञान सर्व सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यक्चारित्र भी शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके अनुसार अपने उपयोगका बनाना, यही है सम्यक्चारित्र।

निश्चयचारित्रके सम्बन्धसे सफलता— ये तीनों यद्यपि एक साथ प्रादुर्भूत होते हैं किन्तु सम्यग्दर्शनकी पूर्णता पहिले होती है और सम्यग्ज्ञान की पूर्णता पश्चात् होती है और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता अंतमें होती है। यहां प्रयोजनके प्रसंगमें जितना धारण करने योग्य परमचारित्र है उस परमचारित्रकी बात कही जा रही है। यह सम्यग्ज्ञानकी पूर्णतासे पहिले ग्रहण करना चाहिए। इसके ही फलमें यह ज्ञान केवलज्ञानरूप विकसित हुआ करता है। तो जैसे कोठेमें अनाज पड़ा हुआ है, वह अंकुरित नहीं होता है, वही अनाज खेतमें पड़े, वैसी ही जलवायुका ग्रहण करे तो वह अंकुरित होता है और फल देने वाला हो जाता है, इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान जब इसे अपने आपके स्वरूपकी स्थिरता होती है तब अपने आपके स्वरूप की स्थिरताके प्रतापसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता होकर यह मोक्ष के फलको फलाने लगता है, ऐसा यह निश्चय चारित्र है।

निश्चयचारित्रका अभिनन्दन— यह निश्चयचारित्र बड़े-बड़े महा-

पुरुषोंके द्वारा, परम योगियोंके द्वारा वंदनीय है। योगीश्वर एक इस ज्ञायक स्वरूपकी स्थिरताकी उपासना किया करते हैं, ऐसे इस चारित्रको हम बार बार वंदन करते हैं। कोई भी पुरुष व्यक्तिको नहीं पूजता है, वह उसके गुणोंको पूजता है और उसके भी गुणोंको नहीं पूजता है, किन्तु अपने आपके गुणोंको पूजता है। जिसको दूसरेके ज्ञान गुणपर अभिनन्दन होता है, हर्ष होता है उसे दूसरेके ज्ञान पर हर्ष नहीं होता है, किन्तु अपने आपके गुणोंपर हर्ष होता है तो अभेदरूपसे, अभेद वंदनरूपसे इस परमचारित्रको मैं वंदता हूं। ऐसा संकल्प रखते हुए आचार्य देव कह रहे हैं कि अब मैं निश्चयचारित्रको कहूंगा।

कल्याणप्रगतिके लिये निश्चयचारित्र व व्यवहारचारित्रका परस्पर सहयोग— यह निश्चयचारित्र ही वास्तवमें शील है, और अंग्रेजीमें सील कहते हैं वस्तुको यथास्थान अवस्थित कर देना दृढ़तासे। अपने आपका उपयोग अपने आपमें जमा रहे, फिर गड़बड़ी न हो, ऐसा सील कर देना यही तो निश्चयचारित्र है, यही आत्मस्वभाव है। निश्चयचारित्र परम निर्वाणका साक्षात् कारण है और व्यवहारचारित्र परमनिर्वाणका परम्परा कारण है। व्यवहार चारित्रका काम निश्चय चारित्रकी पात्रता बनाए रखना है और निश्चयचारित्रका काम साक्षात् कर्मनिर्जरण करके मुक्त अवस्थाको प्राप्त कराना है। जैसे कोई दो बालक लड़ रहे हों, वहां कोई तीसरा बालक आकर एक बालकका हाथ पकड़ ले रोक ले तो मारने वाले बालकको अवकाश मिला कि पीट सकता है। कहनेको तो यह है कि उस तृतीय बालकने उस बालकको तो नहीं पीटा, परन्तु पिटानेमें परम्परया दृढ़ कारण हुआ। यों ही व्यवहारचारित्रने कर्मोंकी निर्जरा नहीं की, लेकिन ऐसी स्थिति उत्पन्न की कि इस निश्चय चारित्रको मौका मिल गया। अब यह निश्चयचारित्र अपने मूल व्यवहारके साथ कर्मोंकी निर्जरा कर रहा है, ऐसे परमकल्याणके कारणभूत निश्चयचारित्रको हमारा अभिनन्दन हो। अब आगे उस ही निश्चयचारित्रके विषयमें प्रसंग बदल-बदलकर वर्णन किया जायेगा और प्रथम ही परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार नामसे उस निश्चयचारित्रकी दृष्टिका पोषण किया जायेगा।

नियमसार प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुप दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

—:०:—